था। उनके कपड़े उनके निश्चय की दृढ़ता को प्रकट करते थे। वे किसी मनुष्य से डरते नहीं थे, क्योंकि स्वयं ईश्वर से वे डरते थे। अपने धर्म में उनकी अनन्य श्रद्धा थी फिर भी वे संसार के सभी महान् धर्मों का आदर करते थे।

सब जानते हैं कि जितने भी दिन वे जोहान्सबर्ग में रहे, बराबर भारतीयों का काम करते रहे। वे सदा सत्य की खोज में रहते और दीन-दुखियों की मदद करते रहते। इसलिए जैसे ही वे जोहान्सबर्ग आये, उन्होंने यह खोज शुरू कर दी कि यहाँ की जनता के सामने कौन-कौन सी समस्याएँ हैं। उन्होंने देखा कि भारतीयों की समस्या एक ऐसा ही प्रश्न है। इसलिए तुरन्त जाकर नेताओं से मिले। वास्तविक स्थिति उनसे जान ली। दूसरी बाजू का भी अध्ययन किया और ज्योंही देखा कि भारतीयों के पक्ष में न्याय है, त्योंही सच्ची भक्ति और उत्साह से उनका साथ देने लग गये। उनके श्वेत-समुदाय को यह अच्छा नहीं लगा। किन्तु श्री डोक ने इसकी परवाह नहीं की। 'इण्डियन ओपीनियन' के सम्पादक जब भारत की यात्रा पर गये थे, तब श्री डोक ही उसके मार्गदर्शक थे और इन छह महीनों की अवधि में एक भी अंक ऐसा नहीं निकला, जिसमें श्री डोक का जानकारी-मय योग्यतापूर्ण अग्रलेख न छपा हो। इसी प्रकार श्री रिचलेक के साथ वे ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन का भी मार्गदर्शन करते रहे। यह समय उसके इतिहास में बड़ा नाजुक था। जब वे अपने काम के सम्बन्ध में अमेरिका गये, तो कृतज्ञ भारतीयों ने उनके सम्मान में एक-भोज की आयोजना की। श्री हास्केन इस समारोह के अध्यक्ष थे।

इस प्रसंग पर श्री गांधी ने अपने भाषण में कहा कि "आज का समारोह जिनके सम्मान में किया जा रहा है, उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट किये बगैर नहीं रह सकता और न अपने मनोभावों को दबा सकता हूँ। मैं ऐसे समय का जिक्र कर रहा हूँ जब श्री डोक और मैं एक-दूसरे से करीब-करीब अपरिचित-से ही थे। एक दिन की बात है, मैं वॉन ब्राण्डिस

स्ट्रीट पर एक दफ्तर में बड़ी नाजुक हालत में पड़ा हुआ था। श्री डोक ने मुझसे आकर पूछा कि क्या मैं उनके मकान पर जा सकता हूँ। मैंने तुरन्त हाँ भर ली। वहां पहुँचने पर श्री डोक ने अत्यन्त प्रेम के साथ मेरी सेवा शुश्रूषा की। मेरी माँ मर चुकी हैं। मेरी विधवा बहन यहाँ से ४ मील पर हैं। मेरी पत्नी भी चार सौ मील पर पड़ी थीं। परन्तु श्रीमती डोक ही मेरी माँ और बहन भी बन गयीं। आधी-आधी रात को दबे पाँवों से श्री डोक मेरे कमरे में चुपचाप झाँक-झाँककर देखने के लिए आते कि उनका मरीज जाग रहा है या सो रहा है। श्री डोक की उस मूर्ति को मैं कैसे भूल सकता हूँ ! एशियावासियों की उन्होंने जो सेवा की है उसके बारे में मैं कुछ कहूँ और यूरोपियन कमेटी की तारीफ में कुछ न कहूँ यह असम्भव है। हमारे गाँव के सभापति (श्री हास्केन) उसके चेयरमैन हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस कमेटी ने इतने जोर के साथ हमारी ईमानदार मदद न की होती तो हमारा सत्याग्रह टिक नहीं सकता था। जब-जब और जो-जो भी कहा, हमारी मदद करने में श्री हास्केन ने कभी कोर कसर उठा नहीं रखी। सदा तैयार रहते। श्री डोक ने इस प्रश्न का पूरा-पूरा अध्ययन किया था। मुश्किल में पड़े एशियावासियों के लिए उनके घर के द्वार सदा खुले रहते थे। मुझे आशा है, श्री डोक इंग्लैण्ड जाने पर वहाँ लॉर्ड म्यूर और लॉर्ड मोर्ले से भी मिलेंगे और अपने अनुभव का लाभ उन्हें भी देंगे। श्री डोक और उनके परिवार के लिए मैं हृदय से संपूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।"

स्वर्गीय रेवरेण्ड जोसेफ डोक का जन्म ता० ५ नवम्बर सन् १८६१ को डेवनशायर के चुडली ग्राम में हुआ था। उनके पिता चुडली में बैप्टिस्ट पादरी थे। स्वर्गीय रे० डोक की स्कूली शिक्षा बहुत कम हो पायी थी इसका कारण उनका कमजोर स्वास्थ्य था। वे सोलह वर्ष के थे, तभी उनकी माता का देहान्त हो गया। एक वर्ष बाद उनके पिता ने अपनी जगह से त्यागपत्र दे दिया तब उनके स्थान पर वे वहाँ के पादरी बना दिये गये। तीन वर्ष

की अवस्था में वे दक्षिण अफ्रीका आये और कुछ समय केपटाउन में रहे। इसके बाद साउथ अफ्रीकन बाप्टिस्ट यूनियन के द्वारा एक नयी शाखा खोलने के लिए सुपरिन्टेन्डेन्ट भेज दिये गये। सन् १८८९ में यहाँ कुमारी ब्रिग से इनकी भेंट और शादी भी हो गयी। इसके कुछ ही बाद वे युरुप लौट आये। वहाँ वे ब्रिस्टोल के सिटी रोड बाप्टिस्ट चर्च के पास्टर के पद पर चुन लिये गये। इस पद पर वे सन् १८९४ तक रहे। बीच में केवल मिस्र, फिलस्तीन और भारत की यात्रा पर कुछ दिन के लिए गये थे।

१८९४ में श्री डोक अपने परिवार सहित न्यूजीलैण्ड गये। वहाँ वे लगभग छः साल तक वे ऑक्सफोर्ड स्ट्रीट चर्च के पादरी रहे, जिसके बाद सन् १९ २ में इंग्लैण्ड लौट आये।

सन् १९ १ के अन्त में ग्राहमस्टाउन के बाप्टिस्ट चर्च की तरफ से श्री डोक की पुकार हुई इसलिए वे फिर दक्षिण अफ्रीका आये और वहाँ उन्होंने अपना काम सँभाल लिया। चार वर्ष वहाँ रहने के बाद वे रैण्ड आये और सेन्ट्रल बाप्टिस्ट चर्च के मुख्यतः वहाँ के पादरी का काम करने लगे। मृत्यु तक वे इसी पद पर बने रहे।

सारे जीवनभर और खासकर उनके भाई की मृत्यु के बाद से भी डोक की आकांक्षा रही कि वे धर्म-प्रचार का काम करें। किन्तु स्वास्थ्य और घर की परिस्थिति ने उनका साथ नहीं दिया। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में ही उनके लिए इसका रास्ता कुछ खुला और उनको अपनी यह इच्छा पूरी करने का अवसर मिल सका। उत्तर पश्चिम रोडेशिया में कांगो की सीमा के पास एकान्त में एक मिशन था। अपने लड़के क्लीमेंट के साथ उन्होंने वहाँ जाने का निश्चय किया। २ जुलाई को वे इस काम के लिए रवाना हुए। [illegible] रास्ता था। साउथ अफ्रीकन बाप्टिस्ट मिशन सोसायटी ने भी उनकी इस यात्रा से लाभ उठाकर उन्हें एक काम सौंप दिया। रोडेशिया के उमटाली स्थान पर उनका कोई मिशन काम कर रहा था। उसके विषय में इनके द्वारा कुछ खास जानकारी चाही गयी थी।

एनकोला तक की इनकी यात्रा बड़े आनन्द के साथ हुई। स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा रहा, किन्तु उनके पैरों में कुछ दर्द रहता था। कोई १५० मील की सफर थी। यह उन्होंने 'माचिला' पर बैठकर तय की। 'माचिला' एक लम्बे डण्डे में लटकाया हुआ झूला होता है, जिसे दो देसी आदमी अपने कन्धों पर उठाकर चलते हैं। किन्तु इस यात्रा में कुल मिलाकर उनका स्वास्थ्य अच्छा रहा और उन्हें बहुत आशा थी कि उनकी यात्रा सफल होगी। एक दोभाषिये के जरिये कई गाँवों में बोले भी। बहुत-सा लेखन भी किया और बोलते समय भाषणों में काम देंगे, ऐसे बहुत-से छायाचित्र (फोटो) भी लिये।

४ अगस्त को श्री डोक ब्रोकन हिल पहुँचे और ७ को उन्होंने अपने लड़के को विदा किया। उसे जरूरी काम से इंग्लैण्ड बुलाया गया था। अब श्री डोक उमताली के लिए रवाना हुए। बुलावायो में कुछ रुककर ९ अगस्त को अपनी रेल यात्रा के अंतिम मुकाम पर आ पहुँचे। यहाँ रेवरेण्ड वुडहाउस से उनकी मुलाकात हो गयी। इनसे मिशनरी काम के बारे में चर्चा करने में बहुत-सा समय चला गया। तीसरे पहर वह मसावी की बेयर के निवास पर पहुँची। वह स्थान कस्बे के बाहर था। यहाँ श्री डोक का स्वास्थ्य एकाएक बहुत खराब हो गया। इसलिए रात में वे सब लोग वहीं रुक गये। दूसरे दिन सुबह सूर्योदय से पहले ही श्री डोक की नींद खुल गयी थी। बहुत बेचैनी मालूम हो रही थी। इसलिए मिशन पर जाने का इरादा एकदम छोड़ दिया गया। श्री डोक ने बताया कि उनकी पीठ में बहुत दर्द हो रहा है इसलिए फिर लेट गये। बुखार के साधारण उपचार किये गये। किन्तु शरीर गरम नहीं मालूम हो रहा था। इसलिए सोचा गया कि उन्हें बुखार नहीं है। डॉक्टर को बुलाया गया। उसने देखते ही कहा कि इन्हें तुरन्त उमताली के अस्पताल में ले जाना चाहिए। 'माचिला' पर डालकर उन्हें वहाँ ले जाया गया। वहाँ अच्छे-से-अच्छे डाक्टर और सेविकाएँ थीं। उनका जमकर उपचार किया गया।

तारीख १२ को श्री डोक के घर पर तार भेजा गया कि उनके फेफड़ों में पानी भर गया है, किन्तु चिन्ता की कोई बात नहीं है। किसीके आने की जरूरत नहीं है, वगैरह। ता० १५ शुक्रवार की शाम को श्रीमती डोक को दूसरा तार मिला, जिसमें लिखा था कि श्री डोक की हालत चिन्ताजनक है। विषम ज्वर है। श्रीमती डोक ने शनिवार को रात की ट्रेन से रवाना होने की सभी तैयारी कर ली। किन्तु उस दिन सुबह तार मिला कि शुक्रवार की शाम को ही श्री डोक का देहान्त हो गया। फासला बहुत लम्बा था, इसलिए शव को जोहान्सबर्ग नहीं लाया जा सका। ता० १७ की शाम को ४ बजे उन्हें उमताली में ही दफना दिया गया। ठीक उसी समय जोहान्सबर्ग के बापटिस्ट चर्च में एक प्रार्थना सभा की गयी।

विधवा पत्नी के अलावा स्व० श्री डोक तीन लड़के—विली, क्लीमेन्ट और कोमर के अतिरिक्त एक लड़की कमारन छोड़ गये हैं। रेवरेंड जे० एच० हट ने शोक-सभा में प्रार्थना करवायी। श्री डोक इसी गिरजे के पादरी थे। सारा चर्च भर गया था। प्रार्थना में भारतीय प्रतिनिधियों को भी बुलवाया गया था। श्री गांधी फिनिक्स से खासतौर पर इसीलिए आये थे। भारतीय समाज की तरफ से स्व० डोक के महान् कार्यों की प्रशंसा करते हुए उन्हें श्री गांधी ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

श्री गांधी ने कहा कि "स्व० श्री डोक ने भारतीयों की बड़ी सेवायें की हैं, इसलिए कौम उनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती है। भारतीयों के सच्चे-से-सच्चे मित्रों में से वे भी एक थे। हर आदमी की मौत पर यह नहीं कहा जा सकता कि मौत ने बुरा नहीं किया। किन्तु श्री डोक के बारे में जरूर यह कहा जा सकता है। सच पूछिये तो श्री डोक जैसे पुरुष की मृत्यु शोक का कारण नहीं मानी जानी चाहिए। उनका जीवन संपूर्ण आत्म-बलिदान का जीवन था। उन्होंने अपना सर्वस्व अपने सिरजनहार को अर्पण कर रखा था। मृत्यु के बाद अब और भी

अच्छा और दिव्य शरीर धारण करके वे अपने मालिक की सेवा करनेवाले हैं। किन्तु ऐसे अवसर पर शोक नहीं मनायें, यह तो श्री डोक जैसे पुरुष से ही हो सकता है। मैं तो एक मामूली आदमी हूँ। शरीर की चिन्ता में मेरी आत्मा दब गयी है और मुझे तो देहधारी मित्र की ही जरूरत है। इसलिए मुझे तो श्री डोक जैसे सच्चे मित्र और ज्ञानवान् सलाहकार के चले जाने पर अत्यन्त शोक हो रहा है। मुझे उनके जैसा मित्र पाने पर गर्व है। हमें प्रेम के अटूट बन्धनों में बाँधनेवाली चीज थी, इस का 'बुराई का प्रतीकार मत करो' वाला सिद्धान्त। इसे हम दोनों मानते थे। श्री डोक द्वेष को प्रेम से और दुर्गुण को सद्गुण से जीतने में विश्वास करते थे।"

श्री गांधी ने अंत में कहा : "मैं आशा करता हूँ कि श्री डोक का काम उनके बच्चे सँभाल लेंगे और श्रीमती डोक तो भाग्यशालिनी रही हैं। उनके पति बहुत महान् थे। इतने अधिक और इतनी अधिक कौमों के लोग उनकी स्मृति का आदर करते हैं, यह देखकर मुझे विश्वास है कि उनका दुःख बहुत कुछ हल्का हो सकेगा।

प्रस्तावना

इस पुस्तक के लेखक से भी मेरा प्रत्यक्ष परिचय तो नहीं है, किन्तु जिस कार्य को वे इतने प्रेम और हिम्मत के साथ ईमानदारी से करते हैं वह मुझे भी प्रिय है। इस प्रकार हम एक-दूसरे के साथ प्रेम के बन्धन में बँधे हुए हैं।

मेरी बात पर जो विश्वास करते हैं उन सबको मेरी सलाह है कि वे इस किताब को पढ़ें। यह पढ़ने योग्य है। किन्तु जिनकी नजरों में मेरी राय का जरा भी मूल्य न हो मैं उनसे भी कहूँगा कि वे भी इसे अवश्य पढ़ जायँ। इसमें वे एक ऐसे प्रश्न के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी पायेंगे, जिसके बारे में दुर्भाग्यवश इस देश में शायद बहुत कम लोग कुछ जानते हों। फिर भी समाज के हित की दृष्टि से यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों में से एक है।

ट्रान्सवाल में भारतीयों की कुछ आबादी है। इसके नेता हैं श्री मोहनदास करमचन्द गांधी। श्री डोक ने इस पुस्तक में इन्हींका बहुत थोड़े में परिचय और चरित्र देने का यत्न किया है। इस पुस्तक का महत्व एक विशेष कारण से है। जब हम किसी भी प्रश्न के बारे में सोचते हैं, तो उसमें लगे हुए मनुष्यों को उससे अलग नहीं कर सकते। खासकर राजनैतिक प्रश्नों में तो हरगिज नहीं क्योंकि इनके संचालकों के स्वभाव और चरित्र के बारे में यदि हमें यथार्थ ज्ञान नहीं है, तो हम इन प्रश्नों को भी ठीक तरह से समझ नहीं सकते।

यद्यपि मैं ऐसी स्थिति में नहीं हूँ कि आलोचना के तौर पर कुछ कह सकूँ, किन्तु मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इन पृष्ठों में जो कुछ लिखा है, वह बिलकुल सही है और वाजिब तथा उचित भी है।

इस पुस्तक के चरित-नायक भी गांधी हैं। इस देश में जिम्मेदार आदमियों ने भी इन्हें एक मामूली आन्दोलनकारी बताकर इनकी निन्दा की है। इन्हें 'कानूनों का निरादर करनेवाला' कहकर इनके कामों को बुरा बताया है। यहाँ तक भी इशारा किया गया है कि इसमें इनका एकमात्र हेतु स्वार्थ अर्थात् पैसे कमाना है। मुझे विश्वास है कि जिन किन्हीं भी भले आदमियों के दिलों में ऐसी गलत धारणायें बन गयी होंगी यह पुस्तक पढ़ने पर उनके दिलों से वे दूर चलेंगी और उस पुरुष के बारे में सही जानकारी मिल जाने पर उसके कामों का भी वे सही मूल्य समझ सकेंगे।

ट्रान्सवाल का भारतीय समाज अपने एक अधिकार की रक्षा के लिए लड़ रहा है और एक अपमान को दूर करने का प्रयास कर रहा है। क्या एक कौम की हैसियत से हम अंग्रेज इसके लिए उन्हें दोष दे सकते हैं? आज उन्हें वहाँ न वोट देने का अधिकार है और न शासन में उनका कोई प्रतिनिधि ही है। ऐसी सूरत में अपना विरोध प्रकट करने के लिए हिंसा और अशांति को छोड़कर निश्चय ही बिना विधिवत प्रतिरोध के और दूसरा कोई चारा उनके पास नहीं रह जाता। तब क्या इसके लिए हम उन्हें बुरा कह सकते हैं? किसी कर का वे विरोध कर रहे हैं, तो इसका कारण स्वार्थ नहीं है और न वे कोई नये राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए छल-कपट से काम ले रहे हैं। एक कौम की हैसियत से उनका जो अधिकार छीन लिया गया है, केवल उसे प्राप्त करने के लिए ही वे लड़ रहे हैं। इसके लिए जो लोग उन्हें बुरा कह रहे हैं वे खुद ही बतायें कि यदि स्वयं उन पर यही बीतने लगे, तब वे क्या करेंगे? क्या हमारे बीच एक भी ऐसा आदमी है, जो कानून के नाम पर अपने अधिकारों के अपहरण और सामाजिक अपमान को बगैर विरोध किये चुपचाप सह लेगा?

उपनिवेश-सरकार इनके इन दोनों दुःखों को दूर कर सकती है और इसमें सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी एक तिलभर भी हानि नहीं होगी और न उसकी शान ही रत्तीभर कम होगी और इस काम के लिए यही बहुत

अच्छा मौका है। क्योंकि इस समय यूनियन बनने जा रही है, लोगों में नयी भावनाएँ बँध रही हैं। उपनिवेश और साम्राज्य के बीच सम्बन्धों का निर्माण हो रहा है। क्या ऐसे अच्छे अवसर पर साम्राज्य के लिए उपनिवेश इतना-सा काम नहीं करेगा? भारतीयों ने [illegible] को अपना घर बना लिया है। दक्षिण अफ्रीका के विकास में इस कौम ने भी हाथ बँटाया है। वे भी ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक और सम्राट् के प्रजाजन हैं। दक्षिण अफ्रीका संघ-राज्य के निर्माण पर सर्वत्र खुशियाँ मनायी जा रही हैं। क्या इसमें भारतीयों को भी शरीक किया जायगा? उपनिवेश-सरकार केवल एक कानून को रद कर दे, जिसका हेतु पूरा हो चुका है और जो बेकार पड़ा है। उस पर अमल भी नहीं हो सकता। सरकार खुद स्वीकार करती है कि वह निकम्मा है। इसके साथ-साथ एक दूसरे कानून में भी थोड़ा सा संशोधन कर लेना है जिससे इन कानूनों में जो प्रत्यक्ष जातीय भेद-भाव दिखाई देता है, वह हट जाय। बिना इसके इस नीति को व्यवहार में प्रकट करने के लिए भारतीयों के अधिकारों को मानते हुए

पुराने कानून के अनुसार प्रतिवर्ष अधिक-से-अधिक छह भारतीयों को उपनिवेश में आकर बसने दिया जाय। बस, इतने से तो सारा प्रश्न हल हो जायगा। फिर भारतीयों को अपनी यह लड़ाई जारी रखने के लिए कोई कारण नहीं रह जायगा जिसमें उन्हें केवल तकलीफ और बरबादी ही उठानी पड़ रही है। उपनिवेश को भी इस लड़ाई के जारी रहने से कोई लाभ नहीं। निन्दा और बदनामी ही फैलती है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि इतना कर देने पर भारतीयों की कोई शिकायत नहीं रहेगी। ट्रांसवाल के प्रजातंत्र ने उन पर जो बन्दिशें लगा रखी हैं वे तो अभी हैं ही। [illegible] मताधिकार नहीं। वे जमीन नहीं खरीद सकते। गोरों की बस्ती में भी नहीं रह सकते — उन्हें अपना एक मुकर्रर जगह पर बस्ती बनाकर रहना पड़ता है वगैरह। इस [illegible] में हम ठीक से नहीं समझ पाते [illegible] प्रजाजनों की भांति कानून ने भारतीयों को भी

यह अधिकार कम-से-कम सिद्धान्ततः तो है कि वे साम्राज्य के किसी भी भाग में जाकर बस सकते हैं। तदनुसार ट्रान्सवाल में भी वे इसका उपभोग अभी-अभी तक करते रहे हैं। किन्तु पिछले तीन वर्षों से उनका यह अधिकार छीन लिया गया है। बात संक्षेप में इतनी-सी है, पर है चौंका देनेवाली। यदि हम इसे समझ लें—और हमें समझना ही चाहिए, तो हमारे दोनों दलों में सभी दल इसका जरूर विरोध करेंगे, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका में संविधान के आधार पर रंगभेदवाली नीति अपनाये जाने पर अभी-अभी उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ अपनी नापसन्दगी जाहिर की है। इस देश के निवासियों में शुरू से हृदय की कुछ उदारता रही है फिर वे चाहे किसी दल के रहे हों। इसीके आधार पर हमने इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना की है और इसीको लेकर हम उसका समर्थन भी करते रहे हैं। हम कहते आये हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के समस्त नागरिकों को समान अधिकार हैं। किन्तु इसी उदारदलीय शासन में मनुष्यों को महज उनके रंग और जाति के कारण मताधिकार से वंचित किया जा रहा है। ब्रिटिश नागरिकों को अपने बुनियादी अधिकार से इस प्रकार वंचित किया जाना बुरा है। साम्राज्य के लिए अपना कदम पीछे हटाने के समान है। समस्त साम्राज्य में उनके सिद्धान्तों का आज तक इस प्रकार कहीं निरादर नहीं हुआ है किन्तु ट्रान्सवाल में रंगभेद की नीति पर जिस प्रकार अभी अमल हो रहा है, उसमें तो दक्षिण अफ्रीका के नये संविधान से भी अधिक बुरी तरह हमारे राजनैतिक सिद्धान्तों को ठुकराया गया है। यदि हमारे दोनों दल और समाचार-पत्र भी इस चीज को नहीं समझ पा रहे हैं और इतना भारी पतन उनको कहीं गिनती में ही नहीं है तो मुझे कहना होगा कि साम्राज्य का शासन करनेवाली हमारी बुद्धि का ह्रास शुरू हो गया।

यदि अन्त में जाकर यह सिद्ध हो जाय कि हम ब्रिटिश सरकार की दशा में भी अपने साम्राज्य के नागरिकों की रक्षा नहीं कर सकते और हमारे

बादशाह और राजनीतिज्ञों के वचनों का पालन नहीं कर सकते, तो इसका भारत पर क्या परिणाम होगा ? जिन्हें भारत का परिचय है, वे इसे खूब समझ सकते हैं। यदि इस तरह अपमानित, निराश और क्रुद्ध होने पर भारत हमारे साम्राज्य में रहने से इनकार कर दे तो ? तो निश्चय ही मान लीजिये कि साम्राज्य के टूटने का प्रारम्भ हो गया।

ये हैं संक्षेप में वे कारण जिनकी वजह से ट्रान्सवाल के भारतीयों का सवाल साम्राज्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया है। यहाँ हम यह कहकर अलग नहीं हो सकते कि उपनिवेश तो स्वाधीन हैं और उनके भीतरी शासन में मातृदेश कोई दखल नहीं कर सकता। न इसके लिए कारण ही है।

पर हमारी सम्पूर्ण कौम के सम्मान का और समस्त साम्राज्य के अस्तित्व का प्रश्न है। साम्राज्य के प्रत्येक भाग से इसका सम्बन्ध है। फिर यह निश्चित मानिये कि यदि हम यहाँ—साम्राज्य के हृदय-स्थान पर—बैठकर किसी सिद्धान्त के भंग को मंजूर कर लेते हैं या उसकी उपेक्षा कर जाते हैं, तो साम्राज्य के भीतर और बाहर भी वह एक खतरनाक मिसाल बन जायगी और निश्चय ही किसी दिन यह नैतिक पतन सारे साम्राज्य को ले बैठेगा।

इसलिए जिन्हें-जिन्हें भी साम्राज्य का हित प्रिय है, वे सब अब तक सोचा है उससे अधिक—बहुत गहराई तथा दृढ़ता के साथ इस पर विचार करें इसकी जरूरत है।

एक बात और। तात्कालिक कामचलाऊ नीति की दृष्टि से नहीं बल्कि हमारी कौम के बुनियादी सिद्धान्तों को लेकर गहराई से सोचकर हमें इसका निर्णय करना चाहिए कि किसी सिद्धान्त पर अमल करते समय देश-काल का विचार कर लेना और तदनुसार उसमें यहाँ-वहाँ कुछ हेरफेर कर लेना भी बुरा नहीं। किन्तु यदि हम सिद्धान्त को ही उठाकर ताक पर रख देते

है, तो फिर व्यवहार में मार्ग खोजने के लिए हमारे पास कुछ नहीं रह जाता, वह याद रहे।

मैं आशा करता हूँ कि कम-से-कम अब तो झगड़े की यथार्थ कल्पना सबको हो गयी है और उसे न्याय मिल सकेगा। क्योंकि यह लिखते समय मुझे समाचार मिल रहे हैं कि ट्रान्सवाल के ब्रिटिश भारतीयों के प्रश्नों के बारे में अभी बातचीत चालू है। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि श्री गांधी और उनके देश भाई जिस हेतु से इतनी बहादुरी के साथ लड़ रहे हैं और जिसके लिए उन्होंने इतना त्याग और बलिदान किया है, वह इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले-पहले सफल हो जाय।

मिल्टन अर्नेस्ट हॉल, बेडफर्ड
२१ अगस्त, १९ ९

—एम्पथिल

अनुक्रम

•

चट्टानों पर खड़ी मक्खियाँ १.

अक्तूबर १९ ८। यह पुस्तक कोंस्तान्त्सा में लिखी जा रही है। समुद्र के किनारे पर एक विशाल टेकरी है और उस पर है एक किला। इस किले के अन्दर बड़े-बड़े टीले—मिट्टी-पत्थर के ढेर हैं जो रोमनों के हमले के बाद तब लोगों द्वारा बनाये गये थे। शहर पर आतंक जमाने के लिए यहाँ फौज भी रखी जाती थी। आजकल तो यह किला जेल का काम दे रहा है। 'चाम्परलें' का उद्यान इसके नीचे है जिसके आसपास और ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की बाँगुर-सी बनी हुई है। इन पेड़ों के ऊपर से आप कोंस्तान्त्सा की मीनारों और छतों को देख सकते हैं। किन्तु इस दूर के दृश्य को धुएँ के बादल सदा धुँधला सा बनाये रहते हैं। उस शहर का कोलाहल यहाँ तक कैसे सुनाई दे सकता है? किन्तु चट्टानों से टकराकर जो लहरियाँ उठती हैं उनका शोर तो किनारे से टकरानेवाली लहरों की गर्जन के समान अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर ही लेता है। रात के समय यह शोर भी नजदीक-सा लगता है। जब रात ठण्डी होती है और हवा का रुख चट्टानों की तरफ से इधर होता है तब तो यह आवाज और भी बढ़ जाती है—गर्जना का रूप धारण कर लेती है, मानो 'चाम्परलें' के अन्दर चट्टानों, बालू और लहरों के बीच विजय के लिए युद्ध छिड़ गया हो। यह गर्जना कभी नहीं रुकती। गर्मी के दिनों में जब शान्ति होती है तब जरूर ऐसा लगता है, मानो यहाँ कुछ है ही नहीं। तब यह आवाज इतनी धीमी हो जाती है मानो कहीं मधुमक्खियाँ गुनगुना रही हों। धीमी, किन्तु कुछ तो आवाज होती ही है। ये लहरियाँ कभी शान्त नहीं होतीं। रात दिन, हर पल और हर रात अविश्रान्त रूप से इनकी निरन्तर अपार जारी

रहती है और बहुतेरे पत्थर तथा बाद इसके बजाय में सोने के ढेर लगाते रहते हैं।

यह एक अजीब शहर है। कई बातों में बड़ा आश्चर्यमय। एकदम नया, फिर भी इतना पुराना! एक हजार साल पहले के पिछड़े हुए लोगों से लेकर आज के सुधरे युग के बीच के सब तरह के मानव और उनकी गरीबी और दुर्गुणों का दर्शन आपको यहाँ हो सकता है, जो इन सबके यहाँ नित्य नयी अनेक परेशानियों में डाले रहते हैं। शरीर नौजवान है, पर दिल बूढ़ों का-सा पुराना—बर्बर। आबादी की ऐसी खिचड़ी है कि कुछ न पूछिये। उस दिन मेरे सामने एक दुर्घटना हो गयी और वहाँ कुछ लोग एकत्र हो गये। एक मामूली-सी सड़क थी और भीड़ भी मामूली ही थी। मैं भी वहाँ पहुँचा। तब तक तो एक इथियोपियन पादरी अपनी साइकिल पर चढ़ा और चलता बना। उसके बाद एक धीमी रवाना हो गया। जो बचे, वे सब अलग-अलग देशों के रहनेवाले थे। एक ऊँचा हिन्दुस्तानी—शायद पठान था। कुछ काफिर थे। दो गोरे थे जिनमें से एक डच था और दूसरा यहूदी। इस तरह की यह मिली-जुली आबादी है, जो आकर्षक भी ज्यादा है और हैरत में भी डाल देती है। इनमें न मेल है न एक सा मन।

यहाँ खासतौर पर जोहान्सबर्ग में कदम-कदम पर कौम रंग शिक्षा अपराध धर्म आदि की समस्यायें खड़ी होती रहती हैं और नित्य नयी कठिनाइयां पेश करती रहती हैं जो अपना हल तत्काल माँगती हैं। निश्चय ही यहाँ आदमी बड़े चक्कर में पड़ जाता है। किन्तु साथ आकर्षक भी उतनी ही है। यहां आदमी कुछ रोज रहा नहीं कि इस शहर को प्यार किये बगैर नहीं रह सकता। फिर भी जब से यह शहर बसा है, एक ऐसा अजीब प्रश्न खड़ा हो गया है जैसा अब तक नहीं हुआ था। वह है, एशियावासियों का नि.शस्त्र प्रतीकार।

संपूर्ण ट्रान्सवाल में एशियावासियों की कुल आबादी करीब दस हजार

कर दिया। इसलिए उनके पैसे वापस दिये गये। अब उन पर मामले दायर किये जा रहे हैं और कानून तोड़ने के अपराध में उन्हें दो हफ्ते की कड़ी कैद की सजा देकर जेल भेजा जा रहा है। इस नगर की मुख्य सड़कों पर हम अक्सर देखते ही हैं कि कुछ लोगों को हथकड़ियाँ डाले क़तार बनाकर सिपाही ले जा रहे हैं। यही हैं जोहान्सबर्ग के ये निश्शस्त्र सत्याग्रही!

इस वर्ष के प्रारम्भ में किसी समय जेलों में इनकी संख्या कोई दो सौ से ऊपर पहुँच गयी थी। तब से समझौते की कुछ कोशिशें चल रही हैं। सरकार ने कोई वचन दिया और बाद में मुकर गयी। अब एक नया विधेयक पेश हुआ है, जिसमें फिर वैसी ही अपमानजनक शर्तें रखी गयी हैं, इसलिए फिर निष्क्रिय प्रतिकार शुरू हो गया है—उसी धीरज, शान्ति और दृढ़ता के साथ। अब इन कैदियों की संख्या फिर वहीं तक पहुँच जाने की सम्भावना है।

किन्तु यहाँ—जोहान्सबर्ग में किसीको इसकी परवाह नहीं है। यहाँ के अधिकांश गोरों में भयंकर रंग-द्वेष है। इस कारण इस तरह की सैद्धान्तिक लड़ाई लड़ने के लिए यह स्थान अत्यन्त अनुपयुक्त है। फिर यहाँ व्यापार-व्यवसाय, राजनैतिक स्वार्थ, जातीय वैमनस्य और अन्य भी जाने कितने प्रकार के स्वार्थों के विरोध भरे पड़े हैं। इसलिए सरकार के कार्यों में जोहान्सबर्ग के लोगों को आमतौर पर कोई दिलचस्पी नहीं और न उन लोगों की कोई परवाह है, जो तकलीफें उठा रहे हैं। यदि कुछ गिनती के लोगों के हृदय में उनके प्रति दया और सहानुभूति है भी, तो उन्हें अपने विचारों का उच्चारण तक करने की हिम्मत नहीं पड़ रही है।

इस प्रकार चट्टानों पर खड़ी राजनैतिक स्वार्थ, अन्याय, जातीय द्वेष और व्यापारगत लोभ-लालच की ये चक्कियाँ अपने अपार बोझ से इन असहाय एशियाई निवासियों को पीसती और पीसती चली जा रही हैं। कभी इनकी आवाज गिरकर अत्यन्त धीमी हो जाती है तो कभी बढ़कर गर्जन के समान बन जाती है। पर बन्द कभी नहीं होती। और नतीजा? खैर, यह

तो देखा जायगा। किन्तु इनके नेता को इसके परिणाम के विषय में कोई सन्देह नहीं है। कल ही मैंने उनसे कहा : "मगर यह संघर्ष तो काफी लम्बा होता दिखता है। क्योंकि इंग्लैंड जबरदस्त है और यहाँ की सरकार तो दीवार-सी बनी हुई है। इसके जवाब में उन्होंने कहा : "कोई चिन्ता की बात नहीं। कसौटी अगर लम्बी हुई तो मेरे लोग तपकर और भी अधिक शुद्ध हो जायेंगे और विजय तो आने ही वाली है। और सच भी है। सोने की खोज के लिए ही तो चट्टानें हैं। • • •

स्वयं वह पुरुष — २

सन् १९०७ का वह उत्तरार्द्ध था जब मैंने पहले-पहल श्री गांधी को देखा। यों उनका नाम तो बहुत सुना जा रहा था। निष्क्रिय प्रतीकार की हलचल तब काफी प्रसिद्धि पा चुकी थी। किसी पण्डित की गिरफ्तारी पर अखबारों में एक लम्बी-सी खबर छपी और किसी-न-किसी तरह श्री गांधी का नाम हर आदमी की जबान पर था। एक दिन हम लोग कहीं शाम के खाने पर बैठे थे और एक मित्र ने यहीं एशियावासियों का किस्सा वहाँ छेड़ दिया। हम लोग यद्यपि इस भाग में एकदम नये तो नहीं थे पर तुलनात्मक रूप नये-नये आये थे। इसलिए उस मित्र ने इन भारतीयों के बारे में हमें अपनी राय भी बता दी। उन्होंने जो किस्सा सुनाया वह इतना अजीब था और हमारे अब तक के अनुभव से इतना भिन्न था कि हम सबके दिल में इस विषय में कुछ जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। आखिर उसीसे प्रेरित होकर इस हलचल के नेता से मिलने का

घराने की तस्वीरें भी थीं। कुछ अन्य भारतीय देशभक्तों के चित्र थे और एक सुन्दर चित्र ईसा का भी था। कमरे में कुछ मामूली-सी कुर्सियाँ पड़ी थीं और कानून की भारी भरकम किताबों से लदी आलमारियाँ खड़ी थीं। बस, यही कुल साजो-सामान था।

किन्तु सच पूछिये, तो इन सबकी तरफ मेरा ध्यान बाद में गया। मेरा सारा ध्यान सबसे पहले तो उस आदमी पर केन्द्रित हो गया था जो मेरा स्वागत कर रहा था। उस समय मुझे जो अप्रत्याशित अनुभव हुआ और जो अनेक कल्पनायें दिमाग में पड़ी हुईं मैं तो उन्हींमें उलझ गया। मैं भारत में प्रवास कर चुका था। इसलिए मेरे दिमाग में अनायास एक तस्वीर खड़ी हो गयी कि किस प्रकार के आदमी से मेरी भेंट होगी। मैंने सोचा कि यह एक ऊँचा पूरा शानदार आकृतिवाला आदमी होगा और बोलचाल में इसके प्रभाव के बारे में जो सुना जा रहा था उससे लगा कि चेहरे पर भी बड़ा रोब होगा। शायद बर्ताव में रोबीलापन और सामनेवाले पर हावी होने की वृत्ति भी होगी। किन्तु देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि यहाँ तो एक मुस्कराता नेक चेहरा मेरी तरफ देख रहा है। चमड़ी का रंग और आँखें भी काली हैं। पर इस चेहरे पर जो मुस्कराहट और निर्भयता चमक रही थी उसने तो मुझे अभिभूत कर दिया। उनकी आकृति को देखकर मुझे अनुमान हुआ कि इनकी उम्र ३५ ३८ साल के करीब होगी और यह गलत नहीं निकला। लेकिन शरीर पर काम के बोझ का असर इतना पड़ रहा था कि सिर पर सफेद बाल झाँकने लग गये थे। इनकी अंग्रेजी धाराप्रवाह थी और प्रकट ही यह एक अत्यन्त संस्कारशील आदमी जान पड़ता था।

बैठने के लिए कुर्सी की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने मुझसे अपने आगमन का कारण पूछा और जब तक मैंने अपनी बात पूरी नहीं कर ली "हाँ हाँ ठीक" कहते हुए और तेजी से सिर हिलाते हुए बात ध्यान को याद करते रहे। अब वे गाल मुड़े पर आप और उँगलियों के इशारे

से अपनी बात को समझाते हुए कुछ चुने हुए वाक्यों में एशियावासियों की सारी समस्या उन्होंने इस तरह खोलकर मेरे सामने रख दी कि वैसी मैंने पहले कभी नहीं सुनी थी। मैंने जानना चाहा कि इस संघर्ष में भाग लेनेवाले लोग विशेष रूप से भिन्न-भिन्न धर्म के माननेवाले हैं। इसके जवाब में उन्होंने सारी बातें खोल-खोलकर बता दीं। छोटे-से-छोटा मुद्दा भी नहीं छोड़ा। अगली बात कहने से पहले वे बराबर यह देख लिया करते कि पहलेवाली बात समझ ली गयी है या नहीं। यह सब वे इतनी स्पष्टता के साथ कहते जा रहे थे कि सारी बातें पूरी तरह मन में उतरती जातीं। एक बार वे कुछ अधिक रुके—यह देखने के लिए कि मैं सचमुच सारी स्थिति समझता जा रहा हूँ या केवल शिष्टाचारवश 'हाँ-हाँ' कर रहा हूँ। तब मैं तो समझता था कि वे अपनी बात पूरी कर चुके। अतः मैंने अपना नोटबुक बन्द कर लिया। किन्तु वे बोले: "नहीं अभी किताब बन्द न कीजिए। मुख्य मुद्दा तो अब आनेवाला है।"

यह सारी बातचीत वे बड़ी शान्ति के साथ कर रहे थे जिससे एक भीतरी शक्ति हृदय की महत्ता और इतनी निर्मलता तथा सच्चाई प्रकट हो रही थी कि मैं तो इस भारतीय नेता की तरफ उसी क्षण से आकृष्ट हो गया और हम सदा के लिए मित्र बन गये।

दो-एक दृश्य इस समय मेरे सामने साफ-साफ खड़े हो रहे हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व के बारे में कुछ कल्पना हो सकती है।

कैदियों के कठघरे में आकर खड़ा हो जाता है और अपने पीड़ित भाइयों के लिए उसे दो महीने की सजा सुना दी जाती है। किन्तु इससे पहले मस्जिद के विशाल मैदान में प्रतिनिधियों की एक सभा होती है, जिसमें वह कहता है : "और कुछ भी करें मैं तो जरा यही कहता रहूँगा कि यह लड़ाई तो धर्म की लड़ाई है। धर्म से मेरा मतलब वह साधारण धर्म नहीं जो आमतौर पर समझा जाता है। मेरा मतलब उस धर्म से है, जो सब धर्मों की बुनियाद है और जो हमें अपने सिरजनहार के सामने ले जाकर खड़ा कर देता है। अगर आप इस्लामियत को सुख देते हैं सोच-समझकर एक बार कसम खाते हैं और फिर ट्रान्सवाल में आराम की जिन्दगी बिताने की लालच में उसे तोड़ देते हैं तो आप खुदा को मानने से इनकार कर देते हैं। नासरीय के उस यहूदी ने कहा है कि जो खुदा की राह पर चलना चाहते हैं उन्हें दुनिया की तरफ से मुँह मोड़ना पड़ता है। इसलिए इस मौके पर मैं भी अपने देशभाइयों से कहूँगा कि वे दुनिया की तरफ से मुँह मोड़ लें और परमात्मा के चरणों को पकड़ लें, ठीक उसी प्रकार जैसे बच्चा अपनी माँ की छाती से चिपट जाता है।" कैसे ध्यान देने लायक और जोशभरे शब्द हैं!

ऐसा ही एक और दृश्य मुझे याद आ रहा है। पठानों ने उन पर हमला कर दिया, गिरा दिया और लाठियों से इतना पीटा कि वे बेहोश हो गये। जब होश आया तब आप पड़ोस में किसी दफ्तर में बैठे हुए थे, जहाँ उनको ले जाया गया था। संयोगवश घटना के बाद तुरन्त मैं भी जा पहुँचा था। आप लाचार, घायल पड़े हुए थे और खून बह रहा था। डॉक्टर उनके घावों को धो रहे थे और पुलिस अधिकारी खड़े खड़े यह देख रहे थे और ध्यान से उनकी बात सुन रहे थे। आप अपनी संपूर्ण शक्ति बटोरकर धीमी आवाज में इन अधिकारियों को समझा रहे थे कि इन लोगों के विरुद्ध जो खून करने पर तुले थे कोई कार्यवाही न की जाय। क्योंकि वे समझ रहे हैं कि वे जो कर रहे हैं

यह उचित ही है। इसलिए मैं नहीं चाहता कि उन पर कोई मामला चलाया जाय। फिर भी गुनहगारों को सजा तो हुई। किन्तु इसमें भी गांधी ने कोई हिस्सा नहीं लिया।

ये हम भुला नहीं सकते। इनसे इस आदमी के व्यक्तित्व का बोध होता है। अधिकांश आदमी जैसे होते हैं उनकी अपेक्षा कुछ ऊँचे स्तर पर हमारे यह मित्र रह रहे हैं। केम्ब्रिज की मेरी की भाँति यह कुछ सनकी-से बहुत प्रतीत होते हैं। अनेक बार इनको समझने में भूलें भी हो जाती हैं क्योंकि जो लोग इन्हें नहीं जानते वे इस गहरी पारमार्थिकता को समझ ही नहीं सकते। उन्हें लगता है कि यह तो ढोंग है—चालाकी है, जो पूर्व के लोगों में पाया होती है। किन्तु जो इन्हें अच्छी तरह जानते हैं, उन्हें इनकी उपस्थिति में अपनी तुच्छता पर लज्जा आती है।

मेरा ख्याल है कि धन के लिए उनके दिल में कोई आकर्षण नहीं है। उनके मित्र इस पर उनसे सदा नाराज रहते हैं। कहते हैं: ये कुछ नहीं लेते। अपना प्रतिनिधि बनाकर इंग्लैंड भेजते समय हमने इन्हें जो पैसे दिये, वहाँ से लौटने पर वे सब वापस लाकर दे दिये। नेटाल में इन्हें जो उपहार दिये गये, वे भी सब सार्वजनिक कामों के लिए लौटा दिये। ये तो गरीब ही रहनेवाले हैं क्योंकि वे वैसे ही रहना चाहते हैं।

इन मित्रों को उन पर आश्चर्य है। उनकी इस विचित्र निःस्वार्थता पर वे उनसे नाराज हैं किन्तु इसी कारण इन पर वे अटूट विश्वास और प्रेम भी करते हैं। असाधारण व्यक्ति हैं जिनके सत्संग से आदमी ऊपर उठता है और जितना निकट से इन्हें देखता है उतना इनसे अधिक ही प्रेम और आदर होने लगता है।

• • •

आज सुबह जब मैं पहुँचा तो कमरा हमेशा की भाँति भारतीयों से भरा हुआ था। एशियाई मामलों में लगी हुई नयी कठिनाई पर बड़ी गंभीरता से चर्चा हो रही थी। किन्तु भारतीयों में एक अजीब दूरदर्शिता होती है। ज्योंही उन्हें मालूम हुआ कि श्री गांधी और मैं एकान्त में कुछ बातचीत करना चाहते हैं, लोग एक चुपचाप उठकर चले गये और श्री गांधी अपनी कुर्सी का रुख मेरी तरफ करके पूरे ध्यान के साथ उत्सुकतापूर्वक मेरी तरफ देखने लग गये। उनकी काली-काली आँखें मानो मुझसे प्रश्न पूछ रही थीं। मुझे लगा उनके बाल पहले की अपेक्षा आज कुछ अधिक सफेद हो गये हैं।

बातचीत का प्रारंभ करते हुए मैंने कहा : 'मेरे मित्र मैं आपसे एक अजीब प्रश्न पूछना चाहता हूँ। वह यह कि अपने इस कार्य के लिए आप अपना-आपको किस हद तक फ़कीर करने के लिए तैयार हैं?"

उन्हें कुछ आश्चर्य सा हुआ पर शान्ति के साथ बोले : "यह तो अब तक आपको ज्ञात हो जाना चाहिए था।

मैंने कहा : 'नहीं, इस दृष्टि से तो मैं अभी समझ नहीं पाया हूँ।"

यह सुनकर उनके चेहरे पर एक नया तेज चमकने लग गया और बोले : "मैं तो इसके लिए अपनी आत्मा को पूरी तरह अर्पित कर चुका हूँ। अब मेरा अपना कुछ नहीं रहा। इस कार्य के लिए मैं किसी समय भी मरने या जो कुछ आवश्यक हो सब करने को तैयार हूँ।"

"जरा सोच समझकर उत्तर दीजिये —मैंने कहा— 'शायद मैं आपसे बहुत बड़ी माँग कर रहा हूँ।"

"नहीं ऐसा नहीं हो सकता"—वे शान्ति से बोले।

मैंने देखा कि यह सही मौका है और मैंने अपना दाँव खेलना शुरू किया।

अच्छा सुनिये —मैंने कहा— 'अभी हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, वह तो एशियाइयों के बसने के प्रश्न को लेकर केवल लिखापढ़ी कर रहे हैं। इस सरकार के सामने हमारी यह लड़ाई एक बड़ी लड़ाई का हिस्सा मात्र है जो हमें एक बहुत बड़े मैदान पर लड़नी है। इस प्रश्न के अन्दर समस्त ब्रिटिश साम्राज्य में भारतीयों की स्थिति का प्रश्न निहित हुआ है। हमें उसे हल करना होगा। उसके लिए आपको बहुत बड़ा काम करना है। तो सवाल यह है कि इसके लिए हमें क्या-क्या तैयारी करनी होगी?"

अपना सिर स्वीकृति की मुद्रा में उन्होंने हिलाया। मैं आगे बोला:

"आप जानते हैं कि हम यूरोपवासियों की दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु होती है चरित्र और व्यक्तित्व। यहाँ और इंग्लैण्ड में भी यही बात है। भारतीय प्रश्न में मुख्य हिस्सा आपका है। अतः इस हलचल के नेता का उनसे परिचय और विश्वास हो जाना अत्यंत महत्त्व की बात है।"

यहाँ वे कुछ बोलना चाहते थे। किन्तु उन्हें रोकते हुए मैंने कहा:

'अगर मेरी बात सुनते जाइये। इस हलचल के नेता होने के कारण इसके लिए आपका व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण बन गया है। मुझे ऐसा लगता है कि यदि मैं एक पुस्तक लिखूँ—जिसमें सारी हलचल का हूबहू सही सही और विश्वसनीय चित्र खींच दूँ और इंग्लैण्ड की जनता के समक्ष आपके व्यक्तित्व को भी सही रूप में रख दूँ तो आशा है आनेवाली महान् लड़ाई में उससे बड़ी मदद मिल सकती है।

अब तक वे जो जोर के साथ 'हाँ' भरनेवाला सिर हिलाते रहे थे वह कुछ कमजोर हो गया। पर एकदम बन्द नहीं हुआ, इसलिए मैं फिर आगे बढ़ा।

'किन्तु आप स्वयं जानते हैं कि यह मैं केवल आपके सहयोग से ही कर सकता हूँ। आपको मुझे अपने बचपन और जवानी की घटनाएँ

सुनानी होगी। मुझे आपके चरित्र और व्यक्तित्व का चित्रण करने में मदद करनी होगी। लेकिन यदि मैंने अब तक ठीक तरह से समझा है, तो यह आपके लिए कठोर-से-कठोर पश्चात्ताप का कार्य होगा।"

जैसे ही मेरा हेतु उनकी समझ में आया वे बोले: 'ओहो, आपने तो मुझे पूरी तरह से अपने जाल में फँसा लिया।

"किन्तु"—मैंने कहा—"यह तो बताइये कि इससे आपके भाइयों की कुछ मदद होगी या नहीं?"

पलभर सोचकर उन्होंने कहा: "हाँ इंग्लैंड में अवश्य होगी।

"तब आप इतनी मदद कर सकेंगे?"—मैंने पूछा।

"हाँ इस काम के लिए मैं यह भी कर सकता हूँ। किन्तु आप मुझसे क्या चाहते हैं? कुछ लिखवाना तो नहीं न चाहते?"

'नहीं, एक शब्द भी नहीं'—मैंने कहा—"मुझे तो केवल कुछ प्रश्नों के जवाब भर देते जाइये। भारत के जिस शहर में और पूर्व के इस शहर के जिस सुन्दर भवन में आपका जन्म हुआ उसका वर्णन मुझे सुनाइये। अपने पिता के विचार तथा आपको जहाँ-जहाँ संघर्ष करना पड़ा मुसीबतें झेलनी पड़ीं और जहाँ-जहाँ असफलताएँ पायीं इनके हाल आप मुझे बतायें। किन्तु जो बातें आप स्वयं मुझे नहीं बता सकेंगे, उन्हें मैं आपके साथियों से जान लूँगा।

इस प्रकार इस कहानी का जन्म हुआ और हम प्रेमपूर्वक हाथ मिलाकर अलग हुए। अबकी बार हम एक दूसरे के प्रेम में और भी दृढ़ता के साथ बँध गये।

● ● ●

पोरबन्दर : वह सफ़ेद शहर

तो अब आरंभ करें। पश्चिम भारत में एक नगर है, पोरबन्दर। अब हम वहाँ चलें और कल्पना करें कि एक पुश्त पहले वह कैसा रहा होगा। यही गांधी-परिवार का पुश्तैनी वतन है। भारत में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होते। फिर भी तब में और आज में बड़ा फर्क हो गया है। पोरबन्दर में भी हुआ है। पहलेवाला पोरबन्दर अब नहीं रहा। वे पुराने रिवाज, वह सूना एकान्त, वह गम्भीर वातावरण सब लगभग चले गये। आज का शहर वह पोरबन्दर नहीं है। बेशक, आज भी वह सदा की तरह समुद्र के किनारे पर है। अब भी वह एक नामकि छोटे से राज्य की राजधानी है, जो गुजरात के एक भाग—सौराष्ट्र—में है और जिसमें कोई पचास गाँव हैं। उसके नरेश राणा साहब अब भी प्रथम श्रेणी के नरेश माने जाते हैं। फिर भी वह पुराना पोरबन्दर अब नहीं रहा।

जिस युग की मैं बात कर रहा हूँ, तब काठियावाड़ के दूसरे शहरों की भांति पोरबन्दर के भी चारों तरफ बड़ी चौड़ी शहर-पनाह थी—कोई बीस फुट चौड़ी और उसी हिसाब से ऊँची थी। अब तो इसे मिटा दिया गया है। शहर के मकानात पत्थरों के बने हुए थे जो पास ही की खानों से लाये गये थे। यह पत्थर सफ़ेद और नरम था, जिस पर आसानी से काम हो सकता था। किन्तु जैसे जैसे जलवायु का असर उस पर होता वह कड़ा होता जाता था। इस प्रकार समय पाकर ये इमारतें संगमरमर के ठोस और बड़े-बड़े [illegible] भी [illegible] सदियों तक टिक सकते थे। मकानों की बना[illegible] दिखाने का प्रयास भी किया गया था। [illegible] और बाजार भीड़भरे थे पर साथ [illegible] आश्चर्य होगा। [illegible] सूर्य के प्रकाश

प्रकाश में दूर से मोटी-मोटी और ऊँची दीवालोंवाला यह सफेद शहर इतना मनोहर दीखता कि जिसे आदमी कभी भूल नहीं सकता। दुर्भाग्यवश पोरबन्दर में पेड़ बहुत कम थे। राणा साहब का महल और बगीचा शहर पनाह के अन्दर ही थे। किन्तु इसके अतिरिक्त वहाँ सौंदर्य का कहीं नामो-निशान भी नहीं था। गरम प्रदेशों में पक्षियों के पंखों के समान पत्तोंवाले ऊँचे-ऊँचे ताड़ के पेड़ खड़े होते हैं और सूरज की तेज गरमी में लहर पड़ती रहती है। किन्तु पोरबन्दर में यह कुछ नहीं था। उस सारे शहर में हरियाली के नाम से केवल एक चीज थी। हर घर में कुण्डे या गमले में उगा तुलसी का छोटा-सा पौधा, जिस पर पूजा-सामग्री पड़ी हुई होती।

शहरपनाह के बाहर एक फर्लांग की दूरी पर समुद्र था। यह शहर के आसपास इस प्रकार फैल जाता कि कभी-कभी पोरबन्दर लगभग एक द्वीप-सा बन जाता और पड़ोस के खेत दलदल, जहाँ से आने-जाने के लिए बाद में पुल की जरूरत पड़ने लग गयी थी। इसके बाद समुद्र की विरुद्ध दिशा में सामनेवाली दूर की पहाड़ियों तक मैदान ही मैदान था।

कोई चालीस वर्ष पहले इस मैदान पर और इन पहाड़ियों पर घोर गृहयुद्ध छिड़ गया था। यों भारत में बड़ी-बड़ी उथल-पुथल हुईं—मुगलों और मराठों के बीच युद्ध हुए, क्लाइव और हेस्टिंग्स ने अनेक मैदानों पर विजय पायी एक गदर भी हो गया पर ये सब काठियावाड़ में पहुँच नहीं पा सके। वहाँ गृहयुद्ध बहुत होते रहते। अक्सर एक समय पोरबन्दर की जनता के एक बहुत बड़े हिस्से ने राणा की हुकूमत को मानने से इनकार कर दिया। ये ठाकुर लोग थे। बस, गृहयुद्ध छिड़ गया। अन्त में जीत राणाजी की ही हुई। इसकी दन्तकथाएँ अभी तक लोग हुक्कों पर सुनाते रहते हैं। बागियों में दो भाई थे, जो इतनी वीरता से लड़े थे कि जब उनमें से एक के दोनों हाथ बेकार हो गये, तो वह पैरों से बन्दूक चलाता रहा। भारत के पूर्वी हिस्से के लोग तुलना में कहीं सौम्य थे। किन्तु काठियावाड़

के ये निवासी दूसरी धातु के बने थे, युद्ध के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है।

समुद्र का भी इन पर बड़ा असर पड़ा है। फोनीशियन्स, नॉर्थमेन और मिस्रियों की भाँति इनकी माझियों का काम भी उन्होंने किया है। बहुत पुराने समय से पोरबन्दर के निवासी समुद्री व्यापार करते रहे हैं। यहाँ बने हुए जहाज जंजीबार और एडन के बीच प्रायः दौड़ा करते। साहसिकता भरे इस समुद्रिक जीवन ने जहाँ इन्हें आजाद मिजाज बना दिया वहीं उसने इन्हें देश-देश के लोगों और दुनिया का व्यापक ज्ञान भी प्रदान किया है। तीस वर्ष पहले पोरबन्दर के निवासियों का एक बहुत बड़ा भाग स्वयं राज्य की ओर से समुद्री व्यापार में लगा था और यहाँ का बढ़िया घी तथा दूसरी चीजें विदेशों में पहुँचाया करता था।

मतलब यह कि गांधी-परिवार इन लोगों में से था।

पोरबन्दर का राजवंश अपने-आपको बहुत प्राचीन मानता है। ठेठ हनुमानजी से अपनी उत्पत्ति बताता है। इस राजवंश से गांधी-परिवार का सम्बन्ध बड़ा निकट का रहा है।

आप कल्पना नहीं कर सकते कि इन पुराने राजे-रजवाड़ों के शासक कितने विचित्र और क्रोधी होते थे। उदाहरण के लिए राणा साहब विक्रमाजीत सिंह को लीजिये। उत्तमचन्द और करमचन्द गांधी इन्हींके दीवान रहे हैं। बड़े मजबूत दिलवाले, अत्यंत शुद्ध चरित्र, शील वृत्ति प्रायः कठोर, इतने आजाद मिजाज कि पोलिटिकल एजेंट से भी झगड़ लेने और किसी भी क्षण विद्रोह खड़ा कर दिया। महाराजा उनके आश्रित गुणों मानते थे। किन्तु साथ ही उनमें कितनी ही विशेषताएँ भी नई पत्नियों में थीं जो इन खामियों की पूर्ति कर देती थीं और प्रजाजन उनको प्यार करते थे। एकदम परस्परविरोधी बातें—जो पुराने समय में अनहोनी नहीं मानी जाती थीं।

ऐसे राजा का दीवान बनकर रहना कोई हँसी-खेल नहीं था। यहाँ

सहनशीलता की मानो रोज परीक्षा होती और कोई ठिकाना नहीं रहता कि कब क्या हो जाय। फिर भी हमारे गांधी के दादा उत्तमचन्द वर्षों तक उस बड़े पद पर रहे। एक समय, जब विक्रमसिंह का राजतिलक नहीं हुआ था एक शानदार घटना हो गयी जो इस परिवार के पुश्तैनी अधिकार पर सदा के लिए एक महत्त्वपूर्ण असर छोड़ गयी।

महाराजकुमार विक्रमसिंह की नाबालिगी में उत्तमचंद ने राजमाताजी को नाराज कर दिया। महारानीजी ने उन्हें पद से अलग कर दिया। इस पर उत्तमचंद पोरबन्दर छोड़कर चले गये। राज्य की फौज ने उनकी हवेली पर तोपें लगा दीं। तोप के इन गोलों के निशान आज भी उस पुरानी हवेली पर देखे जा सकते हैं। उत्तमचंद बरडा की पहाड़ियों की उस तरफ जूनागढ़ के राज में चले गये। नवाब ने प्रेम से उनका स्वागत किया। किन्तु दरबारियों ने देखा कि उत्तमचंद ने मुजरा बाएँ हाथ से किया है यह बहुत बड़ा अपमान था। इससे बहुत छोटी-छोटी बातों के लिए कई लोगों को अपनी जान से हाथ धोने पड़े हैं। नवाब ने इनसे इस व्यवहार का कारण पूछा तो उत्तमचंदजी ने आदरपूर्वक, किन्तु दृढ़ता के साथ जवाब दिया कि उन्हें जो भी मुसीबतें सहनी पड़ी हैं, उन सबके बावजूद दाहिना हाथ तो पोरबन्दर को ही अर्पित रहेगा। नवाब की तारीफ करनी चाहिए। उन्होंने इस अपमानित दीवान के देशप्रेम की कद्र की और उन्हें अपने आश्रय में रख लिया। कुछ दिन बाद मुसीबत के बादल बिखर गये और गांधी वापस पोरबन्दर बुला लिये गये।

उत्तमचन्दजी की मृत्यु के बाद उनके पुत्र श्री करमचंद गांधी पोरबन्दर के प्रधान मंत्री हुए और कोई अट्ठाईस वर्ष तक इस पद पर काम करते रहे। इन्हें भी महाराणा की नाराजगी सहनी पड़ी। और जैसा कि आप जान गये हैं, उन दिनों यह कोई आसानी बात नहीं थी। अपने छोटे राज का अपना मान न छोड़ा और महाराणा का सम्मान लेकर करमचंद राजकोट चले गये।

जाहिर है कि पोरबन्दर के राजनैतिक जीवन में गांधी-परिवार का बड़ा असाधारण स्थान रहा है। मोहनदास ने बताया कि मुझे याद है कि बचपन में जब हम पोरबन्दर में थे हमें अपने वंश की प्रशस्ति याद करनी पड़ती थी जिसमें बताया गया था कि हमारे पूर्वज कौन-कौन हो गये, उन्होंने क्या-क्या किया और वे कहाँ-कहाँ गये वगैरह। हमें रोज इसका पाठ करना पड़ता।

●●●

जब भी गांधी अपने माता-पिता के बारे में बातचीत करते हैं तो सुननेवालों को लगता है, मानो हम किसी तीर्थ और पुण्यक्षेत्र की कहानी सुन रहे हैं। ऐसा लगता है, मानो पुजारीजी ने मन्दिर के भीतर के देवताओं का पट खोल दिया है—दर्शन के लिए। उनके सारे जीवन और उस दैवी शक्ति का स्रोत यही है।

एक दिन वे इसी प्रकार चिन्तन की मुद्रा में मेरे सामने बैठे थे, तब मैंने उनसे कहा कि मुझे आपके पूर्वजों का हाल सुनाइये। और उन्होंने इसके जवाब में जो कुछ कहा, उसका सार यह है :

हिन्दुओं में चार वर्ण हैं। इनके अन्दर और भी बहुत से भेद उपभेद हैं। उन चार वर्णों के नाम ये हैं :

(१) ब्राह्मण अथवा पुरोहित वर्ग,

(२) क्षत्रिय या योद्धा वर्ग

(३) वैश्य अथवा व्यापारी वर्ग और

(४) शूद्र अर्थात् सेवक वर्ग।

गांधी इनमें से तीसरे वर्ग में आते हैं। जन्म से वे वैष्णव हैं। पिताजी अत्यंत धार्मिक वृत्ति के पुरुष थे। भगवद्गीता संपूर्ण उन्हें कण्ठस्थ थी। (मैथ्यू अरनाल्ड का 'सॉंग सिलेस्टियल' इसीका अनुवाद है।) उनका जीवन भी एक पक्के वैष्णव का-सा था।

आश्चर्य की बात तो यह थी कि भारतीय रजवाड़ों के षड्यंत्रकारी वातावरण का उन पर कोई असर नहीं हुआ। उनका जीवन बिल्कुल शुद्ध रहा। बहुत लम्बी सेवा देखकर एक बार ठाकुर साहब ने उन्हें जमीन का एक टुकड़ा दिखाते हुए कहा कि "इसमें से जितनी चाहें, ले लें।

किन्तु इस पर बुरा मानकर उन्होंने साफ इनकार कर दिया। उन्हें यह रिश्वत सी लगी। ठाकुर साहब ने कहा : "अपने बच्चों के लिए आप कुछ नहीं करेंगे? उनके लिए भी कुछ प्रबन्ध कर देना चाहिए। भले ही थोड़ा-सा हो। तब उनके एक रिश्तेदार ने उन्हें समझाना शुरू किया। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने अपना विरोध हल्का किया। तब भी चार सौ गज से अधिक उन्होंने जमीन लेना स्वीकार नहीं किया। धन के लिए उन्हें कोई आकर्षण नहीं था। तिरसठ वर्ष की अवस्था में जब उनकी मृत्यु हुई उन्होंने लगभग अपनी सारी सम्पत्ति दान धर्म में खर्च कर दी थी।

उनके जीवन का एक मनोरंजक किस्सा सुनिये। एक बार वहाँ के असिस्टेंट पोलिटिकल एजेण्ट से उनका झगड़ा हो गया। वह अंग्रेज था। उन दिनों राजकोट के ठाकुर साहब को—जिनकी नौकरी करमचन्द करते थे—बहुत कम अधिकार थे। ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि सर्वेसर्वा होता था। उसके एक इशारे पर दीवान तक को हटा दिया जा सकता था। किन्तु करमचन्द गांधी बड़े निर्भय पुरुष थे। अपने मालिक—ठाकुर साहब के बारे में उस अंग्रेज के मुँह से कोई अपमानजनक शब्द सुनते ही उन्होंने तुरन्त उसका प्रतिवाद किया। इस पर एजेण्ट आगबबूला हो गया और उसने इनसे कहा कि माफी माँगो। करमचन्द ने इनकार कर दिया तो एजेण्ट ने उन्हें तुरन्त गिरफ्तार करके एक पेड़ के नीचे बैठा दिया। इस घटना से सारे शहर में बड़ी उत्तेजना फैल गयी। उन दिनों [illegible] ऐसा [illegible] पहले कहीं किसीने देखा-सुना नहीं था। अन्त में [illegible] की विजय हुई। माफीमाँगी [illegible] वापस ले [illegible] [illegible]

[illegible] पोरबन्दर में [illegible] किन्तु [illegible] की इजाजत उन्हें नहीं [illegible] मुहूर्त रखना

नज़दीक आ गया था कि घोड़ों की चौंक भागकर उन्हें तांगे में वह सारी बाबा करनी पड़ी। इस गड़बड़ी में रास्ते में गाड़ी उलट गयी और उन्हें बड़ी चोटें आयीं जिनसे वे फिर खड़े नहीं हो पाये।

इसके बाद के कुछ वर्ष—उनके सबसे छोटे पुत्र—मोहनदास सदा उनकी सेवा में रहे और जो कुछ मैंने सुना उससे ज्ञात होता है कि इन पिता-पुत्रों के बीच बहुत प्रेम था। किन्तु मोहनदास बहुत बड़े मातृभक्त थे। माँ का जब कभी जिक्र आता है तब उनका गला भर आता है और आँखें प्रेम से भीग जाती हैं। वास्तव में इस माता का व्यक्तित्व बड़ा दिव्य रहा होगा।

पुरुषों के लिए एक से अधिक पत्नियाँ रखना मना तो नहीं था पर पोरबन्दर में मुसल्मानों को छोड़ दूसरी श्रेणी में यह प्रथा आमतौर पर नहीं पायी जाती थी। गांधी-परिवार में भी यह प्रथा नहीं थी। परन्तु भी नहीं था। गांधी की माँ अपने पति की दूसरी पत्नी थीं। थीं भी वे बहुत कम उम्र, किन्तु बड़ी बुद्धिमती और सूझ-बूझवाली थीं। सच तो यह है कि राज्य की राजनीति में उनका प्रभाव कोई ऐसा-वैसा नहीं था। तमाम दरबारियों की औरतों से उनका प्रेम था। उन्हें जेवरों का शौक नहीं था। बहुत कम गहने पहनतीं—नाक में नथ, हाथ में हाथीदाँत की चूड़ियाँ और पैरों में कुछ भारी-सी कड़ियाँ—ये ही उनके गहने।

वे अत्यन्त धार्मिक थीं। बड़ी नियमनिष्ठ! लोग कहते थे कि उन्होंने उनको लगातार दिन के कोरे उपवास करते देखा था। धर्म उनका जीवन-सर्वस्व था। उनकी वजह से घर का सारा वातावरण धर्ममय बन गया था। अनुशासन की बड़ी सख्त थीं। फिर भी हृदय में प्रेम और कोमलता भी इतनी थी कि सारे बच्चे उन पर असीम प्यार करते। यदि घर में कोई बीमार होता, तो वे रात-रातभर बीमार के पास बैठतीं और सेवा करती रहतीं। अगर आसपास किसीको मदद की ज़रूरत होती, तो वे वहाँ और तुरन्त कर देतीं, फिर वह ब्राह्मण शूद्र—कोई हो। प्रतिदिन सुबह

इनकी हवेली के फाटक पर माँगनेवालों की भीड़ लग जाती। पचीस-तीस आदमी-औरतें—कोई भिक्षा चाहता है, तो कोई छाछ। कोई खाली हाथ नहीं लौटता था। मोहनदास पर सबसे अधिक इसका असर पड़ा है।

इस पुण्यमयी माता की एक झाँकी देखिये। गांधी ने बताया कि "जब पढ़ाई के लिए मेरे लन्दन जाने का प्रस्ताव आया तो बहुत देर तक 'ना' करने के बाद केवल एक शर्त पर माँ ने अपनी अनुमति दी। उस दूर वाले शहर में लोगों का कैसा पतित और अनैतिक जीवन होता था उसकी कहानियाँ उनके कानों पर पहुँच चुकी थीं। उन्हें सुनकर उनका जी काँप रहा था। इसलिए वे मुझे एक जैन स्वामी के पास ले गयीं और उनके सामने मुझसे तीन शपथें दिलायीं—यह कि मैं मद्य मांस और औरतों से सदा बचकर रहूँगा। और इन शपथों ने सचमुच लन्दन में अनेक प्रलोभनों से मुझे बचा लिया।

• • •

पोरबन्दर का मकान स्मृतियों का एक लम्बा चित्रपट-सा है। बहुत पुराने समय में किसी पूर्वज ने मन्दिरों के पास जमीन का एक टुकड़ा खरीदा और वहाँ मकान बनवा लिया। अब मुख्य सड़क से एक गली में होकर वहाँ पहुँचा जाता है, जिसके एक तरफ कृष्णजी का और दूसरी तरफ रामजी का मन्दिर है मानो संरक्षण के लिए खड़े हैं। गली से होकर आगे हमें कुछ खुली जगह मिलती है। उसके बाद एक ऊँचा बरामदा है और फिर मुख्य मकान। शुरू-शुरू में वह कैसा था कोई नहीं जानता। हर पुश्त ने उसमें कुछ हेरफेर किये हैं। इस प्रकार मकान बढ़ता गया। और जब नीचे की मंजिल में विस्तार की गुंजाइश नहीं रही, तब मंजिल पर मंजिल चढ़ने लगी। जब चौथी मंजिल की बारी आयी तब लगा कि अब मकान इतना बोझ नहीं उठा सकेगा। इसलिए आखिरी मंजिल लकड़ी की बनी। इस तरह यह एक पुराना, बेतरतीब, तोप के गोलों के निशानोंवाला मकान है जो गांधी-परिवार की लम्बी पुश्तस्मृतियों का मकबरा-सा है।

सन् १८६९ के वर्ष में २ अक्तूबर को यहीं मोहनदास का जन्म हुआ। वह सबसे छोटे भाई थे। हिन्दू-प्रथा के अनुसार छठे दिन विधाता माता (छठी देवी) के पूजन का बड़ा उत्सव होता है। इसी दिन बच्चे का नामकरण होता है। तदनुसार इस बच्चे का नाम मोहनदास रखा गया।

प्रायः यह काम कुल के ज्योतिषी करते हैं। राशि और नक्षत्र देखा, गणित किया और वे अक्षर बता दिये जिनसे बच्चे के नाम का प्रारम्भ होना चाहिए। इनके अनुसार यह नाम—मोहनदास आया। इसके बाद पिता का नाम जुड़ जाता है और अंत में कुल की अल्ल—गांधी लगा दी

जाती है। इस प्रकार 'मोहनदास करमचंद गांधी' इस तरह पूरा नाम बन गया। सात वर्ष की अवस्था तक बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा पोरबन्दर में ही हुई। एक खानगी शिक्षक से कोई धार्मिक पुस्तक वह पढ़ता रहा। इसके बाद यह परिवार राजकोट चला गया जहाँ वह सरकारी पाठशाला में भरती हो गया। यों गांधी-परिवार का पुश्तैनी घर तो पोरबन्दर ही बना रहा; किन्तु वहाँ अब इनका जाना बहुत कम हो पाता था। पोरबन्दर से राज-कोट कोई एक सौ बीस मील है। बैलगाड़ी से पूरे पाँच दिन का रास्ता। कभी-कभी केवल खास त्योहारों पर, विवाह आदि प्रसंगों पर या बड़े मौकों के अवसर पर ही वहाँ जाना हो सकता था।

हालाँकि राजकोट पोरबन्दर की भाँति बहुत सुन्दर नगर पर नहीं बना है, किन्तु देखने में शायद यह अधिक सुन्दर है। शिक्षा की सुविधा की दृष्टि से तो निश्चय ही वह अधिक अच्छा था। यह आजी नदी के तीर पर है। उस समय इसके आसपास शहर-पनाह भी थी पर अब उसे मिटा दिया गया है और अब वहाँ पेड़ों की कतारें हैं जिनके कारण आज यह गुजरात के सुन्दरतम स्थानों में से एक बन गया है।

राजकोट के दो हिस्से हैं—एक पुराना दूसरा नया—पूर्व और पश्चिम। पुराने भाग पर राजकोट के ठाकुर साहब का राज है और वहाँ विकास भी कम होता है वे सब ब्रिटिश सरकार के संरक्षित भाग हैं।

नये शहर को 'स्टेशन' भी कहते हैं। यह बम्बई के गवर्नर के अधीन है और यह वास्तव में ब्रिटिश है। इन दोनों भागों के नागर सम्बन्धी कानून और न्यायालय भी इतने अलग-अलग हैं मानो वे अलग-अलग राज्य हों। इमारतों की दृष्टि से पुराना राजकोट पोरबन्दर जितना समृद्ध नहीं है। यहाँ न वह सफेद पत्थर है न वह सुन्दर नक्काशी की खुदाई। मकानात सीधे-सादे और गरीबी की छाप छोड़ते हैं। यहाँ पूरब की दरिद्रता और आलस्य अधिक है। किन्तु 'स्टेशन' नामक भाग सुन्दर है। उन दिनों भी सुधरने लगा ही था। फिर भी पेड़ लगाये जा रहे थे क्यारियों

में फूल खिलने लगे थे और जहाँ-तहाँ शानदार बंगले खड़े हो गये थे। ध्यान खींचनेवाली इमारतों में सबसे प्रमुख था राजकुमार-कॉलेज, जिसके अन्दर यूरोपियन ढंग के सुन्दर निवास थे। कुँवर रणजीतसिंहजी यहाँ पढ़ रहे थे। 'स्टेशन' के बाद दूर-दूर तक जहाँ तक नजर पहुँचती हरे भरे मैदान फैले हुए थे जिनके बीच कहीं-कहीं गाँव और मवेशी भी दिखाई देते या फसलें खड़ी होतीं। किन्तु मुख्यतः इस भाग में मवेशी ही पाले जाते।

गांधी-परिवार का दूसरा घर राजकोट में था। वह महल से लगा हुआ था। शुरू-शुरू में वे इस शहर में केवल मेहमान या नवागंतुक के तौर पर रहे। लेकिन जब करमचंद ने ठाकुर साहब के दीवान का पद स्वीकार कर लिया, तब अपने लिए उन्होंने यहाँ मकान बनवा लिया और विधिवत् यहाँ के निवासी तथा नागरिक बन गये। मोहनदास उन दिनों पाठशाला में पढ़ते थे। पहले तो वे गुजराती शाला में जाते रहे। दस वर्ष के हुए, तब तक वहीं पढ़ते रहे। इसके बाद काठियावाड़ हाईस्कूल में जाने लगे, जिसके मुख्याध्यापक एक पारसी मेहुएर थे। अहमदाबाद से सत्रह बरस की अवस्था में मैट्रिक पास किया तब तक वे यहीं पढ़ते रहे।

मैंने उनसे पूछा कि 'उन दिनों आपने ईसाइयों या ईसाई-धर्म के बारे में कुछ सुना था?' उन्होंने कहा: 'जब तक पोरबन्दर में रहे तब तक तो नहीं सुना। मेरे खयाल में वहाँ ईसाई नहीं पहुँचे थे। किन्तु राजकोट में ईसाइयों की अफवाहें हमारे स्कूल में और घरों में भी आ पहुँची थीं। लेकिन वे बोलचाल भी किसी प्रकार अच्छी नहीं थीं। राजकोट में एक प्रेस्बिटेरियन मिशन था और एक बार 'एक प्रसिद्ध हिन्दू ईसाई हो गया है' इस समाचार से सारी पाठशाला में बड़ी सनसनी पैदा हो गयी। ईसाई बन जाने का अर्थ हम अच्छा नहीं मानते थे। ईसाइयत को बुरा समझते थे। पाठशाला के विद्यार्थी निश्चित रूप से मानते थे कि ईसाई बनने का अर्थ है मांस खाना और शराब पीना।'"

"इस धर्म के सिद्धान्तों के बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। ज़रा भी नहीं। ईसाई-धर्म का अर्थ उनके लिए केवल वही बातें थीं, जिन्हें हिन्दू बहुत बुरा मानते थे। इसके अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं जानते थे। हाँ, कभी-कभी जब हम पढ़ने के लिए स्कूल में जाते, तब स्कूल के फाटक के पास हमें भीड़-सी दिखाई देती और मिस्टर स्कॉट उपदेश देते दिख जाते या दूर से उनकी आवाज़ कानों से टकरा जाती। कभी-कभी ये भी अफ़वाहें सुन पड़तीं कि लोगों ने उनके साथ दुर्व्यवहार किया। किन्तु कम-से-कम मैं तो कभी उनके पास उन दिनों नहीं गया। बाद में मैं उन्हें जानने लगा और उनका आदर भी करने लगा।"

इस समय धर्म के बारे में सारी शिक्षा घर पर ही होती। तब धर्म की अवनति नहीं हुई थी।

●●●

परिवर्तन ७

कम-से-कम दो घटनाएँ ऐसी हैं, जो मोहनदास के छात्र-जीवन में महत्व रखती हैं। एक तो उनका विवाह और दूसरा उनके धार्मिक जीवन का नाजुक प्रसंग।

तेरह वर्ष की उम्र में ही उनका विवाह हो गया। सगाई चार वर्ष पहले हो चुकी थी जब वे पोरबन्दर में रहते थे। विवाह-विधि भी पोरबन्दर में ही हुई। भारत में वर-वधू प्रायः शादी के दिन तक एक-दूसरे से अपरिचित ही होते हैं। कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि शादी के बाद जब पहले-पहल घूँघट खोला जाता है तब वर-वधू को एक धक्का-सा लगता है और इस धक्के के साथ उनके विवाहित जीवन का प्रारम्भ होता है। किन्तु इस शादी में ऐसा नहीं हुआ। संभवतः दोनों के माता-पिता के विचार अधिक सुधरे हुए थे। अतः उन्होंने इस पुरानी प्रथा का इतना खयाल नहीं किया। जो हो इस वर-वधू को विवाह के कई दिन पहले राजकोट लाकर रख दिया गया था और गांधी-परिवार में ये दोनों बच्चे एक साथ मिलकर खेलते रहे।

विवाह के दिन बड़ा आनन्द रहा। मोहनदास, उनके भाई और एक चचेरे भाई इन तीनों का विवाह उसी एक दिन हुआ। बहुत-से रिश्तेदार आये थे। घर में चारों तरफ धूम ही धूम हो गये थे। चूँकि वर और वधू दोनों बच्चे ही थे इसलिए पुरोहितों के मन्त्रोच्चार से लेकर लड़के-लड़कियों के चोटियों के गाँठ तक साधारण कार्यक्रमों में भी बहुत आनन्द आया। किन्तु यह बहुत पुरानी बात है। वास्तव में भारत के अधिकांश सुधारकों के समान गांधी भी बाल-विवाह को पसन्द नहीं करते। वे मानते हैं कि इसने भारत को निर्वीर्य बना दिया है और भी कई बुराइयाँ पर

विचार से हुई हैं। किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य को दूसरी आदर्श अपने और चरित्र का निर्माण होने से पहले यदि वह आजीवन सम्बन्ध हो जाता है और यदि वह सफल—सुखी सिद्ध हुआ, तो दोनों के बीच इतना तादात्म्य हो सकता है जो अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता। शायद इन्हें अपने विषय में यही अनुभव हुआ है, क्योंकि श्रीमती गांधी एक अत्यंत पतिनिष्ठ और बहादुर पत्नी हैं। इन मुसीबतों के महीनों में उन्होंने बड़ी तकलीफें उठायी हैं। वे अपने पति के साथ जेल नहीं जा सकीं इसका उन्हें बड़ा दुःख रहा है। वे निरंतर रोती रहीं खाना तक छोड़ दिया और इस सबका उनके शरीर पर बड़ा असर पड़ा है। फिर भी अनिच्छा पूर्वक, किन्तु बड़ा दिल करके उन्होंने अपने बड़े लड़के को स्त्रियों के साथ जेल भेज दिया। इस प्रकार पोरबन्दर की इस छोटी वधू ने अपने कर्तव्य का बराबर पालन किया। इन दिनों वे फिनिक्स-आश्रम पर हैं। उनके पास उनके तीन बच्चे एक बहू और एक पोता भी है। इस शिशु का पिता हरिलाल है जो श्रीमती गांधी का सबसे बड़ा बच्चा है। वह अभी क्यामाही की हैसियत से वालक्सरस्ट जेल में अपने मामले की सुनवाई की प्रतीक्षा कर रहा है।

किन्तु हम बहुत दूर चले आये। तो उन बालपन के दिनों में श्री मोहनलाल गांधी कथा में थे वे एक धार्मिक संकट में फँस गये और अन्ततः पूरी तरह गुमराह हो गये थे। कुछ समय तो वे करीब-करीब नास्तिक ही बन गये। अब तक वे घर में बराबर ठाकुरजी का पूजन प्रतिदिन करते थे। जब से उन्हें होश आया उन्होंने कभी यह नहीं समझा कि यह पत्थर, लकड़ी या धातु की मूर्ति स्वयं भगवान है पर उन्हें बताया गया था—और उन्होंने भी समझ लिया था कि प्राण-प्रतिष्ठा की विधि से इन मूर्तियों में प्राण आ जाता है और इसीसे वे पूजा करते थे। किन्तु जब दूसरे लड़कों और लोगों ने उनका तर्क रखा तो धर्मविषयक उनकी आस्था में बड़ा तर्क हो गया। यह कैसे हो गया इसका उन्हें पता भी नहीं

पक्ष। उनके दिल में शंका पैदा हो गयी और अब हर बात का कारण जानने और पूछने की वृत्ति उनमें जाग उठी।

उन्होंने बताया कि "अब मुझे यह खयाल हुआ कि अमुक बात ऐसी ही क्यों है? हमें यही क्यों करना चाहिए? इसका कारण क्या? वगैरह" ये प्रश्न ऐसे थे, जो उनकी माताजी की बतायी धर्म-शिक्षा के बहुत विरोध में जाते थे। उनके सामने मूर्तिपूजा को माननेवाले हिन्दू-धर्म और नास्तिकवाद के बीच चुनाव की गुंजाइश ही नहीं रही। अतः वे नास्तिक बन गये।

तब यहीं से वे गुमराह होने लगे। ठाकुरजी की पूजा के अलावा दूसरी अच्छी-अच्छी बातें भी धीरे-धीरे छूटने लगीं। केवल एक बात उनके स्वभाव में मजबूत जड़ जमाये थी। यदि वह न होती, तो मोहनलाल नीति और अध्यात्म दोनों में पूरी तरह गिर जाते। धर्म का मनुष्य पर बड़ा प्रभाव होता है—फिर वह कोई भी क्यों न हो। यह अगर पक्का बना है, तो समझ लीजिये, मनुष्य का संपूर्ण जीवन खतरे में है।

श्रीमती बेसेन्ट ने इस बात को समझ लिया था। किसी समय वे धर्म को एक निरा अन्धविश्वास मानने लग गयी थीं और दूसरे लोगों को भी इस गुलामी से छुड़ाने के प्रयत्न में लगी हुई थीं। तब उन्होंने देखा कि यह तो बड़ी भूल हो रही है। वे लिखती हैं। "नीति और सदाचार के पीछे एक शक्ति होती है। मनुष्य को इसकी सदा रक्षा करनी चाहिए। एक बार यदि कहीं यह चली गयी, तो मनुष्य के पास दूसरी कोई वस्तु नहीं रह जाती जो उसका स्थान ग्रहण कर सके। यह एक ऐसी बाड़ और रुकावट है, जो मनुष्य को दुर्गुणों और अपराधों से बचाती रहती है, भले ही वह कमजोर हो। किन्तु उससे कुछ रक्षा तो हो ही जाती है। जब तक उससे अधिक अच्छी चीज हमारे हाथ में नहीं आ जाती, इसकी रक्षा हमें करनी ही चाहिए।"

तो इस कठोर परीक्षा और मुसीबत के समय में एक चीज सदा उनके

साथ बनी थी—सचाई सत्यनिष्ठा । उसने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा । तब और आज भी उनके स्वभाव का यह एक अभिन्न अंग है । वे कभी झूठ नहीं बोले । दूसरे सब व्यापार छूट गये, किन्तु यह सदा बना रहा । राजकोट के हाइस्कूल में मोहनदास को जिस नास्तिक मण्डली ने घेर लिया था वह गुप्त रूप से एक के बाद एक हिन्दू-मर्यादाएँ तोड़ती गयी और उत्तरोत्तर अधिक ढीठ बनती गयी । इन लोगों ने पूजा-अर्चा और देव-देवताओं की हँसी उड़ाने लग गये, अन्त में जाकर छिप-छिपकर वे मांस तक खाने लग गये । उनके नेता ने इन्हें समझाया कि अंग्रेज़ों का शरीर इतना अच्छा और बलवान् है इसका कारण मांसाहार ही तो है । एक मुसलमान मित्र भी इनमें था । उसका प्रभाव भी इन दिनों बढ़ रहा था । उसने भी अपनी तरफ से जोर लगाया । अन्त में उनको यह भी पता चला कि जिस शिक्षक का वे बहुत आदर करते थे वे भी मांस खाते हैं । इस प्रकार एक के बाद एक आक्रमण होते गये और वर्षों से पोषित धार्मिक विश्वास टूटकर गिर गये । कुछ समय तो वे एकत्र होकर इन भयंकर कामों पर चर्चा करते रहे । शुरू-शुरू में ऐसा भयानक मार्ग ग्रहण करने में उन्हें डर भी लगा । किन्तु अन्त में मन को कड़ा करके कदम बढ़ा ही दिया गया । पश्चिम के लोगों को बचपन से इस प्रकार के आहार की आदत लगी है । इसलिए वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि धर्मनिष्ठ हिन्दू लोग इस कर्म को इतना बुरा और घृणित समझते हैं । वास्तव में इससे उनकी धर्म भावना पर बड़ा आघात होता है । यह उनकी बुद्धि के ही विरुद्ध है । उनकी दृष्टि में मांसाहार का अर्थ होता है, हिन्दू-धर्म का त्याग—

प्रति ही घृणा होने लगी। इनमें जो आगे बढ़े हुए थे ऐसे पाँच-छह लड़के एक दिन छिपकर किसी एकान्त स्थान में नदी के किनारे पहुँचे। साथ में मांस भी ले गये। वहाँ उस शिक्षक के भाई जिस प्रकार बताते गये, उसे विधिवत् पकाकर सबने खाया। पहले दिन बहुत जल्दी-जल्दी चल गये। श्री गांधी कहते हैं : 'प्रारंभ में यह बड़ा खराब लगा। किन्तु सबसे बुरी बात तो यह थी कि रात के अँधेरे में रह-रहकर वह चित्र सामने खड़ा होता और हम लोगों को नींद तक न आती। ऐसा लगता कि हमने बड़ा पाप किया है।" फिर भी यह क्रम तो जारी रहा। उन्हें भय था कि छोड़ देंगे, तो दूसरे हमें अन्धविश्वासी कहेंगे। फिर अंग्रेजों के समान बलवान् भी तो बनने का निश्चय कर लिया था। इसलिए यह रोग चलता रहा। अब तो भय और अरुचि भी जाती रही। उसमें स्वाद भी आने लग गया। इस मण्डली में एक व्यक्ति मांस का पकाना बहुत अच्छा जानता था। वह हर बार तरह-तरह की स्वादिष्ट चीजें बनाने लगा। यद्यपि यह खाना होता था छिपकर, फिर भी था तो खाना ही। लोग डटकर खाते और मजा भी आता।

मोहनलाल में एक सबसे बड़ा गुण था सत्य का प्रेम। उसने उन्हें अपने जीवन के पुराने आधारभूत तत्त्वों से अलग नहीं होने दिया और बुरी-से बुरी गलतियों में भी उन्हें बचा लिया। एक ओर सत्य से उन्हें प्रेम थी। ऊपर इस छिपे-छिपे खाने की बात को माता-पिता से गुप्त रखना भी जरूरी ही था। लड़का खूब जानता था कि यह भयंकर बात अगर माँ को मालूम हो गयी, तो उन्हें इतना बड़ा धक्का पहुँचेगा जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस परिणाम का सामना करने की भी उसे हिम्मत न होती थी। किन्तु सत्य को छिपाना भी तो महा कठिन था। यह इस लड़के के लिए असह्य हो गया। इन दोनों भावनाओं की टेर से बचने की इच्छा भी पड़ती और असत्य बात को छिपाने के लिए हर बार झूठे बहाने बनाने पड़ते। फिर काम की भूख न होती। इसका भी और सुन

कारण बनाकर खाना पड़ा। इस प्रकार उन्होंने देखा कि हम सही रास्ते से बहुत भटकते जा रहे हैं और झूठ की तरफ बढ़ रहे हैं। यह बात भी, जिसने इन दोनों भाइयों को अपने दोस्तों का साथ छोड़ने के लिए मजबूर किया और वे उन्हें अपने पुराने सही रास्ते पर ले आयी। उनके ख्याल में इस आजादी के लिए कोई वजह नहीं रहा, जिसके लिए छल और झूठ का सहारा लेना पड़ता है। जब मोहनदास को इंग्लैंड भेजा गया और माँ ने शपथ लेने का आग्रह किया तो मोहनदास का यह निश्चय और भी दृढ़ हो गया। माता पिता को अन्त तक इस घटना का पता नहीं चल पाया।

इस प्रकार मांस खाना तो छूटा किन्तु बचपने की धार्मिक स्वतन्त्रता में कोई बहुत अन्तर नहीं पड़ा। उसकी समस्या नहीं गयी। उसके गहरे प्रश्नों को सुन सुनकर माँ अब भी निश्चय ही बड़े चक्कर में पड़ती रही होगी। जब कोई प्रश्न मोहनदास को सताता तो वह हिन्दू धर्म के ग्रन्थों में उनके जवाब ढूँढने की कोशिश करते। उन्होंने सम्पूर्ण मनुस्मृति पढ़ डाली इस आशा से कि उसमें जीवन की समस्याओं के बारे में कुछ प्रकाश मिलेगा। किन्तु उसका जो पाया उससे तो वे और भी चक्कर में पड़ गये। उन्होंने देखा कि इन ग्रन्थों में जिस धर्म का प्रतिपादन किया गया है वह पर प सिखाये गये धर्म की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। समाज में जिस प्रकार का पूजन-अर्चन चल रहा है उसमें बचपन अधिक है। वह गिरानेवाला भी । भला व उनमें श्रद्धा नहीं ग सके। निःसन्देह इससे अच्छा कोई । ा बच दा । इस प्रकार व अपने आपस इन्हीं करते रहे, सोचते द— जैस कि अधि कि तु युवक अब भी करते हैं और अन्त में रास्ता मि ही जाता है।

●●●

अहमदाबाद से मैट्रिक कर लेने पर ग्रेजुएट करने की इच्छा से मोहनदास भावनगर के कॉलेज में भर्ती हो गये। पर जब वे पहली छुट्टियों में राजकोट आये, तो परिवार के एक ब्राह्मण हितैषी ने उनके विचारों को दूसरी दिशा में मोड़ दिया। मोहनदास इन्हें गुरु के समान मानते थे। उन दिनों राजकोट के एक विद्यार्थी लन्दन से बैरिस्टरी करके हाल ही में लौटे थे। यह ब्राह्मण बड़े दूरदर्शी थे। इस बैरिस्टर की मिसाल देकर वह बोले : "अगर तुम्हें अपने देश में आगे बढ़ना है और अपने पिताजी के समान बड़ा आदमी बनना है तो यहाँ से ग्रेजुएट करने का विचार छोड़ दो। तुम्हें लन्दन जाकर बैरिस्टर बनना चाहिए।"

सम्भवतः यह सलाह मोहनदास को अच्छी लगी, क्योंकि इसमें उन्हें प्रवास करने का अवसर मिलनेवाला था। नये-नये देश देखना, नयी परिस्थितियों का मुकाबला करना साहस, महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति, ये सब सपने इसमें पूरे होते थे। अगर भाई और माताजी राजी हो जायें तो जरूर जायें ऐसा निश्चय उन्होंने कर लिया। पिताजी को मरे चार वर्ष हो गये थे। भाई को राजी करना बहुत मुश्किल नहीं था। महाराज (ब्राह्मण) के समान उन्हें भी लगा कि मोहनदास को आगे बढ़ाने का यही एकमात्र उपाय है। दिल के उदार थे ही। उन्होंने सुझाया कि पिताजी जो अपना छोड़ गये हैं वह और जरूरत हो तो मकान बेचकर भी मोहनदास को इंग्लैंड भेजने का खर्च जुटा लिया जाय।

पर माँ की बात दूसरी थी। स्त्री होने के कारण इस मामले में जो नैतिक तथा आध्यात्मिक खतरे थे वे उनकी आँखों के सामने खड़े हो गये। उनका धार्मिक मन डर गया था। लन्दन के जीवन की नैतिक

कहानियाँ वे सुन चुकी थीं। इस कारण वे काँपती थीं। दलीलें और मनाने में दिन के दिन निकल गये। अन्त में वे भगवान् से प्रार्थनाएँ करती रहीं। अब मैं वे मान गयीं पर इस शर्त पर कि मोहनदास लगातार की तीन बातों की शपथ ले।

अब तो जाने से पहले बहुत कम बातें करने को रह गयी थीं। इनमें से एक थी पोरबन्दर जाकर परिवार के सब लोगों से मिल लेना। इससे पहले मोहनदास ने इतनी लम्बी सफर अकेले कभी नहीं की थी। किन्तु उन्होंने समझ लिया कि अब जाना तो है ही, अतः हिम्मत बटोरकर रवाना हो गये। कुछ पाकम बैलगाड़ी में सब किया और कुछ ऊँट पर—इस तरह पोरबन्दर सकुशल पहुँच गये।

उन दिनों तब एक पद थी ऐसी पोरबन्दर में ब्रिटिश एडमिनि स्ट्रेटर (शासन प्रशासक) थे। वे किसी भी होनहार भारतीय विद्यार्थी को छात्रवृत्ति दे सकते थे। इससे लन्दन में उसे अच्छी मदद हो सकती थी। मोहनदास का पोरबन्दर आने का एक हेतु यह भी था पर वह सफल नहीं हो सका। यद्यपि शासन में तो उन्हें सब तरह की छात्रवृत्तियाँ मिलती रहीं पर यहा या तो उस प्रदेश को वे अपनी बुद्धि से प्रभावित नहीं कर सके या कोई विरोधी प्रभाव काम कर रहा था। जो हो उनकी अर्जी म[illegible] नहीं हुई। मि० लेली ने कहा "नहीं तुम्हें पहले ग्रेजुएट हो लेना चाहिए। तब तुम आ सकते हो और तभी मैं सोचूँगा।" इसका अर्थ था [illegible] मैं खोना। किन्तु पोरबन्दर आने में गांधी के मन में [illegible] भी था। वह सफल हो गया। उनके पिताजी के [illegible] उनके चाचा हो गये थे। उन्होंने इस योजना [illegible] और [illegible] आशीर्वाद भी दे दिये। इस प्रकार मोहनदास [illegible] अवसर मिल गया।

[illegible] मोहनदास की जन्म-यात्रा[illegible] [illegible] गयी। शायद वे लोग पुराने विचार के थे।

उन्होंने मोहनदास की बड़ी निन्दा की। कहा कि "वे इस तरह सारी जाति को कलंकित करेंगे।" यह भी धमकी दी कि "यदि वे अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ेंगे, तो इसकी सजा उन्हें भोगनी होगी।" अंत में जब इन बातों और धमकी का भी कोई असर नहीं हुआ तब बम्बई में जाति की एक सभा करके श्री गांधी को जाति से बाहर कर दिया गया। आज भी राजकोट में तो इनका सम्बन्ध होता है, पर पोरबन्दर और बम्बई के जातिवाले इन्हें बरतने से अलग ही मानते हैं।

सन् १८८८ के सितम्बर के एक दिन दोपहर में लन्दन के बन्दरगाह पर उन्होंने कदम रखा। वह दिन कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। इनके साथ दो अन्य भारतीय यात्री भी थे। इतने बड़े लन्दन शहर में अपने मित्रों को वे कैसे ढूँढ़ सकते थे? इसलिए निश्चय किया कि विक्टोरिया होटल चलें। सामान बाद में मिलवाने का प्रबन्ध करके वहीं छोड़ दिया और आप फलालेन के कपड़े पहनकर चल दिये। राजकोट में तो यह वेष बड़ा भव्य मालूम होता था। किन्तु राजकोट के इस विद्यार्थी को लन्दन में तो दूसरा ही अनुभव हुआ जो बहुत अच्छा नहीं था। मोहनदास अब भी उसे भूले नहीं हैं। पास से गुजरनेवाले इनकी वेशभूषा और उनके रंग को बड़े ध्यान से देखते रह जाते। मजबूर तो वे थे ही। उन्हें लगा कि यहाँ मैं कोई अजीब-सा आदमी आ गया हूँ। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यहाँ तो एक भी आदमी के शरीर पर फलालेन नहीं है। फिर काले रंग के लोग तो बहुत ही कम दीख पड़ते। उन्हें लगा कि लन्दन के लोगों में शिष्टता और सभ्यता की बड़ी कमी है। फिर यहाँ उन्हें बेहद अकेलापन भी महसूस हुआ। किन्तु कुछ समय बाद एक जरूरी तार पाकर एक भारतीय मित्र उनके पास आ पहुँचे, तब जाकर कुछ ठीक हुआ। वे उम्र में उनसे कुछ बड़े थे और लन्दन के आचार-व्यवहार से खूब परिचित थे। मोहनदास की सरलता पर उन्हें बड़ी हँसी आयी और बोले "अब मैं तुम्हें 'पूरा अंग्रेज' बना दूँगा।"

इससे पहले वे मोहनदास को रिचमण्ड के कमरों पर ले गये और बड़ी सावधानी के साथ उन्हें समझाया कि लन्दन में उन्हें किस तरह रहना चाहिए। इन्होंने सब अंग्रेजी तौर-तरीके पूरी तरह से और बड़ी उत्सुकता के साथ सीख लिये थे। वे मांस खाते शराब पीते सिगरेट भी पीते और मित्र-मण्डली में किस तरह बरतना चाहिए, यह सब करने लग गये थे। उनका खयाल था कि लन्दन में इसी तरह रहना चाहिए। मैं बड़े तेज विद्यार्थी थे और स्वभाव से बड़े प्रेमी भी। मोहनदास भी यह सब सीख लेते किन्तु माताजी के सामने जो प्रतिज्ञाएँ ली थीं उन्होंने इन्हें बचा लिया। फिर भी कुछ तो सीख ही लिया। पश्चिम-आदर्शों के मोह में आकर प्रारम्भ के तीन महीनों में इस नौजवान विद्यार्थी ने बहुत-सा समय और धन लेकर बरबाद कर दिया।

श्री गांधी ने एक बार बताया : मैंने समझा कि नाचने का अभ्यास कर लेना मेरे लिए जरूरी है। इसी प्रकार भाषण देना तथा फ्रेंच भाषा और वायलिन सीख लेना भी उतना ही जरूरी है। आप तो जानते हैं कि पश्चिम के संगीत को मैं समझ ही नहीं सकता। इसलिए जहाँ तक संगीत से सम्बन्ध है, मैं बुरी तरह असफल रहा। वायलिन सीखने का उद्देश्य तो संगीत की रुचि का विकास करना था पर मेरे पल्ले तो निराशा मात्र पड़ी। फिर भी चूँकि मैं मानता था कि एक अंग्रेज पुरुष बनने के लिए इन कलाओं का सीख लेना जरूरी है, मैंने इनका अभ्यास छोड़ा नहीं। वायलिन भी जारी रखा।

राजकोट के इस विद्यार्थी में एक जबरदस्त शक्ति थी। जिस चीज़ को वह नहीं चाहता उसे कभी ग्रहण नहीं करता। इसमें उसे कोई रोक नहीं सकता था। अपनी प्रतिज्ञा का भी वह पक्का था। इसलिए उसे विचलित करने के जितने भी प्रयास किये गये सब असफल रहे। ऊपर की चीजों का उस पर कोई असर नहीं होता। माँ के सामने जो शपथ ली थी वह इसे याद कर रहे थी। इस सारी गड़बड़ी की वह उस समय

वे अपना सुबह का नाश्ता और रात का भोजन खुद बना लेते। इसमें कोई बहुत बड़े कौशल की जरूरत नहीं थी। दोपहर का खाना वे किसी शाकाहारी होटल में कर लेते। वहाँ कभी एक शिलिंग से अधिक नहीं देना पड़ता। कभी-कभी तो कुछ पेन्स में भी काम चल जाता। विद्याभ्यास की धुन में अंग्रेज साहब बनने की कल्पना जाने कहाँ चली गयी। इस प्रकार तीन वर्ष बीत गये।

● ● ●

कि उन्हें इसका अच्छा ज्ञान होगा। डॉ. ओल्डफील्ड ने एक बार कहा: "तो ईसाई-धर्म क्यों नहीं स्वीकार कर लेते?" इस पर मोहनदास ने जवाब दिया: "जब तक मैं अपने धर्म को अच्छी तरह नहीं समझ लेता तब तक ईसाई-धर्म का अध्ययन करने की मुझे चिन्ता नहीं हो सकती।" डाक्टर को भी यह उचित लगा। फिर भी जब-तब उन्हें अवसर मिलता, ईसा के जीवन से भी गांधी को परिचित कराना वे नहीं भूले।

अध्यात्मविद्यावादियों (थियासॉफिस्ट्स) से भी उनका परिचय करा दिया गया। वे श्रीमती ब्लावट्स्की से मिले। उनकी पुस्तक 'की टु थियोसॉफी' (अध्यात्मविद्या-रहस्य) भी पढ़ी। इससे धर्म में उनकी दिलचस्पी जरूर बढ़ी पर इससे अधिक प्रभाव उन्हें यह नहीं दे सकी। उन्हें दो थियासॉफिस्ट भाई मिल गये। अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने भी मोहनदास की बड़ी अच्छी मदद की। भारतीय पुराण-साहित्य का इन्हें गहरा ज्ञान था। उन्होंने चाहा कि मोहनदास के साथ भगवद्गीता पढ़ें और उन्हें शुद्ध करने के लिए मोहनदास ने यह स्वीकार भी कर लिया। किन्तु जब पढ़ना शुरू किया तब उन्हें यह देखकर बड़ी लज्जा मालूम हुई कि यद्यपि संस्कृत भाषा से वे परिचित थे और यह ग्रन्थ भी अनेक बार पढ़ चुके थे फिर भी वे उसके सूक्ष्म अर्थ बिल्कुल नहीं समझ सकते थे। अतः उन्होंने उनसे पहले इस ग्रन्थ का स्वयं ही अच्छी तरह अध्ययन करने का निश्चय किया। इस ग्रन्थ के प्रति उनके मन में स्वभावतः बहुत श्रद्धा थी क्योंकि उनके पिताजी को यह बहुत प्रिय था। किन्तु ज्यों ज्यों वे इसके अर्थ पर विचार करने लगे, त्यों-त्यों उसके सौंदर्य को देखकर उन्हें अधिकाधिक आश्चर्य और आनन्द भी होने लगा। इसके अद्भुत सौंदर्य ने उन्हें अपना दास बना लिया। परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही थीं। वे अपने घर से बहुत दूर—अपरिचित वातावरण में थे। इस कारण भी उन पर इस ग्रन्थ का बड़ा गहरा असर हुआ। बहुत दिनों से कोई रत्न घर में पड़ा हुआ हो और मनुष्य को उसका मूल्य मालूम न हो फिर एकाएक जब उस ही

पाप—कुछ ऐसा उनका हाल हो गया। उन्होंने कहा कि "गीता ने मुझे जीवन की एक नवीन दृष्टि दे दी। वह मेरी आत्मा में प्रवेश कर गयी। ठीक उसी तरह, जिस प्रकार एक पूर्ण का आदमी ही जान सकता है। मुझे लगा कि आखिर जिस प्रकाश की मुझे जरूरत थी, वह मिल गया।" यह उनके जीवन का नया युग था।

इन्हीं दिनों मैंचेस्टर के एक सज्जन इन्हें मिले। उन्हें भी गांधी के धार्मिक विचारों में दिलचस्पी पैदा हो गयी। उन्हें लगा कि ये गलत राह पर जा रहे हैं, अतः उन्होंने चाहा कि श्री गांधी को ईसाई धर्म में ले आवें। स्वभावतः वे सज्जन बड़े शुद्ध हृदय थे। उन्होंने श्री गांधी से कहा कि "कम-से-कम मेरे खातिर तो आप हमारी बाइबिल एक बार जरूर पढ़ जायें। मैं आपको उसकी एक प्रति दे दूँगा।" गांधी ने यह स्वीकार किया। किन्तु वे सज्जन उन्हें यह बताना भूल गये कि उसमें से किन भागों को वे पढ़ें। इसलिए इस विद्यार्थी ने उसे ठेठ प्रारम्भ से पढ़ना शुरू किया। अध्याय के बाद अध्याय पढ़ गये, पर वह चीज कहीं नहीं मिली, जिसकी उन्हें जरूरत थी। हृदय को समाधान नहीं हुआ। अंत में आगे पढ़ना उनके लिए असंभव हो गया। वे बार-बार अपने-आपसे पूछने लगे कि "इस मित्र ने मुझसे ऐसा वचन लिया आखिर इसका कारण क्या होगा ?" यह सारा मामला उन्हें बेकार-सा लग रहा था। अंत में एकमंडल पढ़ लेने के बाद उन्होंने किताब को बन्द करके एक तरफ रख दिया और इसके साथ ही ईसाई धर्मसम्बन्धी अपना स्वाध्याय संशोधन का काम भी कुछ समय के लिए छोड़ दिया। फिर भी सत्य प्रकाश पाने की इच्छा तो थी ही चाहे वह कहीं से भी मिले। जहाँ तक संभव हुआ उन्होंने न केवल अपने चित्त को खुला रखा बल्कि सत्य रूप को पाने के लिए उसे सजग और तैयार भी रखने का सदा प्रयत्न किया।

उन्होंने गिरजाघरों में भी जाने का यत्न किया। एक बार तो एक सज्जन का प्रवचन सुना। आर्चबीशप पार्कर का भाषण भी सुना। लेकिन

इनमें से एक भी उन्हें प्रभावित न कर सका। गांधी न उनके प्रयोगों को और न विचार शैली को ग्रहण कर सके। प्रायः उनके सम्पर्क से अछूते रहे। किन्तु डॉ॰ पार्कर के बारे में ऐसा नहीं हुआ। सिटी टॅम्पल में हर गुरुवार को इनके प्रवचन होते। विद्यार्थी गांधी के दिल पर इनका कुछ असर हुआ। प्रभावित भी हुए। श्री गांधी कहते थे : ‘मैं वहां कई बार गया। तो कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि यद्यपि अंतिम कदम तक तो नहीं पहुँचा था उस समय फिर भी इन भिन्न-भिन्न प्रभावों से उन्हें मदद ही मिली विचार परिपक्व हुए और कम-से-कम बचपन के नास्तिकता के संस्कार तो दूर हो गये। अब ईश्वर उनके लिए एक वास्तविकता हो गया।

श्री गांधी यद्यपि विशेष प्रवीणता नहीं बता सके, फिर भी परीक्षाओं में अच्छी तरह उत्तीर्ण हो गये। तीन वर्ष के अन्त में बैरिस्टर होकर वे तुरन्त भारत लौट गये।

मैंने उनसे पूछा कि 'अंग्रेजों के जीवन के बारे में आपने क्या राय बनायी? आप पर उनका कुछ अनुकूल प्रभाव पड़ा?"

उन्होंने जोर के साथ कहा "अवश्य। आज भी यदि भारत के बाहर संसार में कहीं जाकर रहने का प्रसंग आये, तो अन्य किसी जगह की अपेक्षा मैं लन्दन को ही सबसे अधिक पसन्द करूँगा।" ● ● ●

गांधी घर लौटे, पर बड़े दुःखी हुए। आते ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी माँ का देहान्त हो चुका। विदेश में दुःख होगा यह सोचकर उन्हें यह समाचार इंग्लैंड में नहीं बताया गया। और यदि वे तत्काल राजकोट आने का निश्चय प्रकट न करते तो अब भी कुछ दिन तक इस विषय में मौन ही रखना चाहते थे। यह समाचार सुनकर श्री गांधी को बड़ा आघात पहुँचा। उनकी माता सिद्धान्तों की बड़ी पक्की थीं। पुरानी बातों के पालन में भी उतनी ही कट्टर थीं। कितना और कैसे पता नहीं, किन्तु मोहनदास में कुछ—परम नहीं—फर्क तो हुआ ही था और यदि वे जीवित होतीं, तो उन्हें यह अखरे बिना न रहता। लेकिन उससे उनके प्रेम में कोई फर्क नहीं पड़ सकता था क्योंकि वह बहुत गहरा था। इस प्रकार राजकोट का सुखद आकर्षण जाता रहा था इसलिए उनका लौटना कुल मिलाकर दुःखदायी ही रहा।

बड़े भाई की इच्छा थी कि इस नौजवान बैरिस्टर को राजकोट ले जाने से पहले समुद्र-यात्रा का प्रायश्चित्त करवाने के लिए किसी पवित्र स्थान में ले जायें। मताजी के बारे में मौन धारण करने में एक कारण शायद यह भी रहा हो। तो अब तो केवल प्रायश्चित्त करना ही रहा। यह तो व्यक्तिगत एक मामूली विधिमात्र थी और जहाँ तक भी गांधी से सम्बन्ध था उनके लिए इसका कोई धार्मिक महत्त्व नहीं था। जाति के अन्दर वे पुनः शामिल हो जायें तथा जातिसम्बन्धी अधिकार मिल जायें यही उसका अर्थ था। पश्चिम घाट का नासिक-क्षेत्र इसके लिए पसन्द किया गया। नवागत 'पापी' को स्नान करवाकर मन्त्रों द्वारा शुद्ध किया गया। कुल विधि में लगभग ५) खर्च हुए। इसके बाद जाति—समाज को भोज दिया गया

और क्योंकर यह बताये कि यह सब क्यों किया जा रहा है उन्हें जाति—समाज में स्वागतपूर्वक शामिल कर लिया गया।

इसके बाद प्रारंभ में राजकोट में और बाद बम्बई की हाईकोर्ट में भी गांधी वकालत करते रहे। एक जैन विद्वान् के साथ प्राचीन हिन्दू-धर्म के विधिवत् संशोधन का कार्य भी साथ साथ हो रहा था। यह कोई डेढ़ वर्ष चला कि उन्हें अपने भाई के द्वारा दक्षिण अफ्रीका जाने का निमन्त्रण मिला। पोरबन्दर में एक कोठी थी जिसकी एक शाखा प्रिटोरिया में भी थी। इसने अपने किसी महत्वपूर्ण मामले में सलाह के लिए इन्हें वहाँ बुलाया। इस मामले में कई अन्य भारतीय भी संबद्ध थे। एक वर्ष का काम था। श्री गांधी ने इसे मंजूर कर लिया। इस प्रकार सन् १८९३ में श्री गांधी को दक्षिण अफ्रीका का पहले-पहल परिचय हुआ। कुछ मिलाकर यह सुखद नहीं था। किन्तु इसके बाद उन्हें वहाँ जो-जो अनुभव हुए उनका पूरा आभास उससे उन्हें मिल गया।

नेटाल में पहले दिन ही उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने कहा: "यहाँ आने में मैंने भूल की। मेरे मुवक्किलों ने मुझे सही-सही स्थिति नहीं बतायी। यों देश सुन्दर है। केलों के पत्ते हवा में डोल रहे थे गन्ने के विशाल खेत लहलहा रहे थे और खजूर के पेड़ों के झुंड के झुंड इस गरम प्रदेश में खड़े थे। इन्हें देखकर उन्हें अपनी मातृभूमि का स्मरण हो आता और अंग्रेजों के गोरे-गोरे चेहरे देखकर उन्हें सात समुद्र पार वाले उस ओर से टापू की याद भी उमड़ आती थी। इससे अधिक सुन्दर स्थान की अथवा उसके निवासियों की अपेक्षा अधिक सभ्य स्वभाव करनेवाले आदमियों की कल्पना करना कठिन होगा। किन्तु भारतीयों के लिए यहाँ कोई स्वागत नहीं था। गोरे और रंगीन कौमों के साथ होनेवाले व्यवहार के भेद को देखकर ये नवागन्तुक चौंक गये। इन्हें बड़ी चोट पड़ी।

श्री गांधी तो एक उच्च जाति के हिन्दू थे। एक प्राचीन और कुलीन

देश में जन्म हुआ था। उनके पिता, दादा और चाचा भी अपने-अपने राज्य में प्रधानमन्त्री रह चुके थे। उनका बचपन भारत में बीता था और पूर्वी देशों में महलों के वातावरण में छोटे से बड़े हुए। बड़े होने पर भी रंगभेद का उन्हें कहीं आभास तक नहीं मिला। बल्कि उच्च अंग्रेजी समाज में उनका अनिर्बन्ध प्रवेश था। राजा रणजीतसिंह उनके मित्र थे। पेशे की दृष्टि से बैरिस्टर थे। इनर टेम्पल जैसे पुराने कानून के विद्यालय में अध्ययन किया। लन्दन में बैरिस्टर की पदवी प्राप्त की। मतलब यह कि वे पूरे अर्थ में सुसंस्कृत थे। अब तक गोरे आदमी को मित्र-सा समझते रहे। ठेठ बचपन से ब्रिटिश न्याय और ब्रिटिशों के धर्माभिमान की प्रशंसा सुनते रहे। यह सच है कि कभी-कभी कोई ब्रिटिश अधिकारी जरूर गुस्ताखी या दुर्व्यवहार कर बैठा पर इससे उनकी राजनिष्ठा को आघात नहीं पहुँचा था।

किन्तु यहाँ (नेटाल में) तो कुछ दूसरा ही हाल पाया गया। डरबन उतरकर वह यहाँ आये उसके दूसरे ही दिन की बात है। न्यायालय के सामने वह अपने मुवक्किल के सॉलिसिटर के पास बैठे थे। भारतीय शिष्ट-परम्परा के अनुसार उनके सिर पर पगड़ी थी। किन्तु उन्हें एकाएक और बड़ी रुक्षता के साथ हुक्म दिया गया कि वे अपनी पगड़ी उतार लें। इससे उन्हें बहुत बुरा (अपमान) मालूम हुआ और कसमसाते हुए वे कोर्ट से बाहर चले गये। यही अनुभव बाद में भी अनेक बार हुआ।

जिस काम से उन्हें बुलाया गया था उसके लिए उन्हें प्रिटोरिया जाना था। रेल से वे चार्ल्सटाउन तक जा सकते थे। मुवक्किलों ने इन्हें खबर दी थी कि वे इस प्रवास के लिए सोने की जगह का टिकट ले लें। किन्तु इनके साथ अपना बिस्तर था इसलिए इन्होंने यह टिकट नहीं लिया। इनके डिब्बे में एक और यात्री था। पीटर मैरित्सबर्ग के स्टेशन पर इस यात्री ने गार्ड को बुलाया और गार्ड ने इन्हें देखते ही हुक्म दिया कि वे

डिब्बे से बाहर आ जायें और दूसरे वैन-कम्पार्टमेण्ट में बैठ जायें। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पहले दर्जे का टिकट था। यह भी जानते थे कि ट्रेन ठेठ चार्ल्सटाउन तक जाती है। इसलिए इन्होंने इनकार कर दिया। गार्ड नहीं माना। ट्रेन छूटने का समय हो गया और इन्होंने फिर इनकार कर दिया। अन्त में पुलिस को बुलाकर इस नये आदमी को जबरदस्ती के साथ उतार दिया गया और इनके बिस्तर वगैरह नीचे फेंक दिये गये। बेचारे रातभर वेटिंग रूम में बैठे जाड़े में ठिठुरते रहे।

अन्त में जब ट्रान्सवाल पहुँचे और घोड़ागाड़ी का प्रवास शुरू हुआ, तो वहाँ भी उन्हें भारतीय होने की सजा उठानी पड़ी। श्री गांधी गाड़ी हाँकनेवाले के पास —बॉक्स पर— बैठे थे। यात्री पार्डकोप से चलने को थे। ठीक इसी समय गार्ड को जो एक मोटा-सा डचमैन था सिगरेट पीने की इच्छा हुई। (नियम यह था कि सिगरेट गाड़ी के अन्दर नहीं पी जाती) अतः उसने इनसे कहा कि उसके लिए जगह खाली करें और नीचे पैरों में बैठ जायें। श्री गांधी ने शान्ति से कहा कि "मैं यहाँ नहीं बैठ सकता।" यह मुँह से निकलना था कि एक घूँसा उनके मुँह पर पड़ा। गिरने से बचने के लिए गरीब गांधी ने सरिये को पकड़ लिया कि इतने में दूसरा घूँसा मिला। वे गिरते-गिरते बचे। अन्त में दूसरे साथी-यात्रियों ने बीच-बचाव करते हुए कहा कि "छोड़ दो भी इस बिचारे को।" इसका करनेवाले [illegible] ने कहा [illegible] अगले मुकाम पर इसकी पूरी मरम्मत हो जायगी" और [illegible] लिया। यदि यह किस्सा इतना दुःखपूर्ण न होता तो उपनिवेश के [illegible] भी परिचित हैं उन सबको यह देखकर बड़ा विचित्र मालूम [illegible] इस सारी स्थिति से कितना बेखबर या कोई छिपाना है। [illegible] पर यह था कि जैसे जोहान्सबर्ग होटल पर पहुँचे तो [illegible] जवाब उनके लिए तैयार था। हर जगह [illegible] अक्सर चोट पहुँचाती। इस अनुभवों [illegible] दिल में इतनी घृणा भर दी कि यदि

यहाँ के भारतीयों से यह वचन नहीं हार गये होते, तो वह एक साल में अफ्रीका छोड़कर चले गये होते।

किन्तु चूँकि वचन में बँध गये थे इसलिए वे रुक गये। वह पूरे बारह महीने वे प्रिटोरिया में रह गये इससे निश्चित रूप से उन्हें लाभ ही हुआ। उन्होंने आत्मसंयम सीख लिया क्योंकि उस दिन जब राष्ट्रपति क्रूगर के निवास के सामने सन्तरी ने उन्हें ठोकर मारकर फुटपाथ पर से गिरा दिया, तब उनके यूरोपियन मित्र कोट्स के तौर पर देखना चाहते थे कि इस मामले में कानून कहाँ तक साथ देता है। किन्तु उन्होंने बदला लेने से मना कर दिया। कौम और रंग के कारण जहाँ-जहाँ भी उनका अपमान हुआ उसे उन्होंने सह लेने का यत्नपूर्वक अभ्यास किया। यहाँ तक कि अब वे इसमें अपनी इज्जत समझने लग गये। हिंसा और आत्मविश्वास के अहंकार के स्थान पर अब त्याग और बलिदान की नम्रता उनमें आ गयी।

इन्हीं दिनों प्रिटोरिया के एक सॉलिसिटर बाइबिल के वर्ग ले रहे थे। श्री गांधी इन वर्गों में जाते थे और वहाँ इसाइयों के स्वभाव का इतनी बारीकी से अध्ययन कर रहे थे कि जिसकी उन लोगों को कभी कल्पना भी नहीं हो पायी। समय काफी मिलता था इसलिए अध्ययन भी खूब किया। इस एक वर्ष में कोई अस्सी किताबें पढ़ डालीं। इनमें बढ़कर थी थियॉसॉफी, टॉल्स्टॉय के ग्रन्थ किसी जैन दार्शनिक की लिखी 'षड्दर्शन' और डॉ॰ पार्कर की लिखी बहुत-सी टीकाएँ थीं। वे पहली बार पूरी बाइबिल पढ़ गये और इसे पढ़ते-पढ़ते जब 'सरमन ऑन दि माउण्ट' पर पहुँचे तब जाकर वे इस धर्म-ग्रन्थ के पूरे आनन्द का अनुभव कर सके। वे कहते थे: "निस्सन्देह भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-धर्म में और ईसा के इस धार्मिक प्रवचन के बीच कोई भेद नहीं है। दोनों का मूल स्रोत एक ही होना चाहिए।"

अपने विचारों की सुधार के लिए और विश्वास को पक्का करने के उद्देश्य से श्री गांधी ने डॉक्टर ओल्डफील्ड और समाज के एक जैन

दार्शनिक की भी छाप थी। एडवर्ड मेटलैंड जो ऐसोटेरिक (गूढ़धर्मी) क्रिश्चियनिटी के प्रमाणभूत प्रवक्ता माने जाते हैं, उनके साथ भी श्री गांधी ने पत्र-व्यवहार किया। श्रीमती अन्ना किंग्सफोर्ड की लिखी 'दि परफेक्ट वे' नामक पुस्तक से वे बड़े प्रभावित हुए। इस प्रकार धीरे-धीरे वे एक निश्चित धर्म-विश्वास की ओर रास्ता खोजते हुए बढ़ रहे थे। इस वर्ष उनके विचारों को निश्चित रूप देने में उनकी वेलिंग्टन कन्वेन्शन यात्रा ने तथा प्रमुख धर्म सुधारक पादरी डॉ. एण्ड्र्यू मरे, श्री स्पेन्सर वॉल्टन और वेसलियन विचारों के माननेवाले अन्य नेताओं के संपर्क ने भी कम हाथ नहीं बँटाया है। इस अनुभव की प्रशंसा करते हुए एक दिन मुस्कराते हुए मुझसे कहते थे कि ये लोग मुझे इतना प्यार करने लग गये कि यदि मैं उनसे प्रभावित होकर ईसाई बन गया होता तो वे खुद भी शाकाहारी बन जाते। इस प्रकार यह स्मरणीय वर्ष बीत गया। ●●●

मैरित्सबर्ग में शिष्ट-मंडल भी जा पहुँचे। अब तक भारतीय समाज निष्क्रिय पड़ा था किन्तु उसके अन्दर एकाएक इतनी चेतना आयी देखकर सरकार भी कुछ चिंतित हो गयी। इससे विधेयक तो नहीं रुका, पर भारतीय इतना ज़रूर सीख गये कि वे निरे तिनके नहीं हैं। यूरोपियन समाज भी जान गया कि उपनिवेश के जीवन में एक नयी शक्ति का जन्म हो चुका है। सदन में विधेयक स्वीकृत हो गया। तत्कालीन प्रधानमंत्री सर जॉन रॉबिनसन ने कई उपयोगी बातें स्वीकार कीं और समाचार-पत्रों ने भी अर्जी पर सहानुभूति प्रकट की, यह कम नहीं था। स्वयं सेवा के लिए तो यह एक बहुत शानदार प्रारम्भ था जिसने आगे बहुत अच्छे परिणाम निकलने की आशाएँ पैदा कर दीं।

श्री गांधी एक व्यवहारशील और सक्षम पुरुष हैं। उनमें सचमुच असाधारण बुद्धि है। उन्होंने देखा कि उनके देशभाई जिस गिरी हुई स्थिति में पहुँचे दिखाई देते हैं उससे उन्हें ऊपर उठाने के लिए ठोस ही सामग्री की ज़रूरत है। दक्षिण अफ्रीका में चीनी के उत्पादन के लिए गन्ने की खेती पर काम करने के लिए भारत से अनुबन्ध मजदूरों को लाया जाता है। ये शर्तें लगभग गुलामी जितनी ही बुरी हैं। स्वतंत्र भारतीय भी इनके अपमानजनक प्रभाव से बचे नहीं हैं। उपनिवेश के कानून दिन-ब-दिन उनकी स्वतन्त्रता का अधिकाधिक अपहरण करते जा रहे हैं। यदि इने-गिने महत्त्वपूर्ण अपवादों को छोड़ दें तो यहाँ के इन स्वतंत्र भारतीयों में कोई ऊँचे सिद्धान्त नहीं, महत्त्वाकांक्षाएँ और अपने ध्येय का भान हो नहीं है जिससे वे इन आक्रमणों का मुकाबला कर सकें। केवल जिन्दा रहना और गुलामों की जिन्दगी जीते रहना उनके लिए काफी है। यह उदासीनता देखकर श्री गांधी को बड़ी चोट पहुँची। उन्होंने देखा कि उनमें ऊपर उठने की काफी क्षमता है पर यहाँ तो वे सबसे नीचे गिरते जा रहे थे। इसलिए कौम को भीतर से ही और बाहर से भी जो शक्तियाँ गिरा रही थीं उनके साथ अपनी सम्पूर्ण ताकत से लड़ने का

उन्होंने निश्चय कर लिया। सन्त जॉन की घाटी में पड़ी उस अभिशप्त सुन्दर कुमारिका के वेश पर लिखा है :

'यह तो तेरे भाग्य में ही लिखा है। पड़ी रह यहाँ
जब तक कि कोई वीर पुरुष आकर तेरा उद्धार न कर दे।"*

अन्त में वह जागी। उनके स्पर्शमात्र से संपूर्ण भारतीय समाज में जागृति की एक नयी लहर दौड़ गयी। अब उनका सारा प्रयास यही है कि इस राष्ट्रीय चेतना का पोषण और समर्थन कैसे करें।

श्री गांधी ने अपने देशभाइयों को सलाह दी कि अब वे उपनिवेश मन्त्री के नाम एक अर्जी भेजें, जिस पर अधिक-से-अधिक दस्तखत हों। यही किया गया। बहुत थोड़े समय में दस हजार दस्तखतवाली एक अर्जी लार्ड रिपन के नाम चली गयी। परिणाम यह हुआ कि विधेयक को महारानी ने नामंजूर कर दिया और वह वापस हो गया। वापस तो ले लिया गया पर इसी आशय का एक दूसरा विधेयक कुछ ही दिनों में फिर पेश हो गया और नेटाल के भारतीयों का मताधिकार छिन गया।

इस बीच श्री गांधी ने प्रस्ताव किया कि भारतीयों के हितों की रक्षा करने के लिए यहाँ कोई स्थायी संगठन बना लिया जाय जिससे भविष्य में वे इस प्रकार फरेब में मार न खा बैठें। उनके मित्रों ने कहा कि कल्पना तो बहुत अच्छी है। किन्तु यदि आप यहाँ रहना स्वीकार करें, तब कुछ हो सकता है नहीं तो इसे अमल में कौन लायेगा। श्री गांधी ने कहा कि यह तो असम्भव है। क्योंकि ऐसे काम के लिए वे आर्थिक मदद तो लेंगे नहीं और यदि वे दक्षिण अफ्रीका में बस गये, तो उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि कैसे तो यहाँ उनका निर्वाह होगा और कैसे एक बैरिस्टर की हैसियत से वे अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकेंगे। तब उनके देशभाइयों

* सिंड्रेला के भाग्य ने गौतम के बैरंग भाग्य से ठीक मिलाकर अभिराम व्यवस्था की [illegible] —अनुवादक

ने उन्हें यह आश्वासन दिया कि यदि वे यहाँ बस जायेंगे, तो उनका धन्धा अच्छी तरह चलने का जिम्मा उनका-कौम का—रहा। भारतीयों ने देखा कि आज वे लोग जिस नाजुक संकट में फँस गये हैं उसमें उनकी तरफ से काम करने के लिए एक योग्य पुरुष की जरूरत तो है ही कि जो दोनों राष्ट्रों के विचार परस्पर को समझाने की सामर्थ्य रखता हो और उनकी आकांक्षाओं को ऐसा रूप भी दे सके, जो स्वीकार हो सके। इसलिए उन्होंने श्री गांधी से रुक जाने के लिए बहुत आग्रह किया। श्री गांधी यदि चाहते, तो उनकी तरफ से अपने कान बन्द करके भारत लौट जाते। किन्तु इस आग्रह के औचित्य को वे समझ गये और यहीं रह जाना इन्होंने मंजूर कर लिया। इस प्रकार वे दक्षिण अफ्रीका की गोद में आ गये और उनके मार्गदर्शन में वहाँ 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' और 'नेटाल इण्डियन एजुकेशनल असोसियेशन' की स्थापना भी हो गयी।

किन्तु सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) में प्रवेश पाने में उन्हें कम कठिनाई नहीं हुई। मतलब रंगभेद के प्रश्न को लेकर ही नेटाल लॉ सोसायटी (नेटाल के अभिभाषक मण्डल) ने उनकी दरख्वास्त का बड़ा कड़ाकर विरोध किया। उसने कहा कि यह तो कभी कल्पना भी नहीं की गयी थी कि यहाँ पर रंगीन लोगों के बैरिस्टरों के नाम भी अभिभाषकों की सूची में दर्ज किए जायेंगे। किन्तु नेटाल का धन्यवाद है कि सर्वोच्च न्यायाधीश ने इस दलील को [illegible] कर दिया और श्री गांधी काम करने लग गये। इसके [illegible] उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। अपने धन्धे में और कौम का [illegible] काम में वे अपनी पूरी शक्ति के साथ लग गये। [illegible] सन् १८९६ में वे अपनी पत्नी तथा बच्चों को [illegible] लिए रवाना हो गये। ●●●

किन्तु श्रोता को प्रसन्न कर देनेवाला उनसे बढ़कर वक्ता मैंने नहीं देखा है। गुजराती भाषा में स्वभावतः वे अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक तेजी से बोल लेते हैं। पर उसमें तो आवाज का उतार-चढ़ाव इससे भी कम होता है। वे कभी हाथ नहीं हिलाते उँगली भी शायद ही कभी उठाते हैं। किन्तु विचारों की दृढ़ता नम्रता और तर्क के बल पर वे श्रोताओं पर बड़ा गहरा असर डाल देते हैं। शायद ही कोई उनके व्यक्तित्व के चमत्कारपूर्ण प्रभाव से बच सकता हो। उनकी सज्जनता को देखकर उनके कट्टर-से-कट्टर विरोधियों को शांत और खिन्न बनते मैंने अपनी आँखों देखा है। उनसे जो भी कोई बातचीत करते हैं वे उनकी मनोहारी सज्जनता से जो सदा एक-सी बनी रहती है प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकते। उन्हें स्वीकार करना पड़ता है कि सचमुच हम एक सच्चे सज्जन से मिले हैं।

इन गुणों का भारत में निस्संदेह ही असर हुआ होगा। विवरणों से ज्ञात होता है कि सचमुच सभी वर्गों के लोगों पर उनका बड़ा गहरा असर हुआ है। यहाँ ब्रिटिश भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार हो रहा है, उससे भारत के निवासियों को बड़ा दुःख हुआ है। आज भी हो रहा है। दुर्भाग्यवश जब यह भावना अपने शिखर पर पहुँच गयी थी ठीक उसी मौके पर रूटर ने श्री गांधी के भाषणों का सार रंग-रँगाकर तार द्वारा इंग्लैंड भेजा है। वह इस प्रकार है—"१४ सितम्बर। भारत में प्रकाशित एक पुस्तिका में लिखा है कि नेटाल में भारतीयों को लूटा जाता है और जानवरों की तरह पीटा जाता है। उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं होती। टाइम्स आफ इण्डिया ने माँग की है कि इन आरोपों की पूरी-पूरी जाँच होनी चाहिए। इस संक्षिप्त समाचार में अवश्य कुछ सत्य है, पर पूरा सत्य नहीं है। और किस बात में अधूरा सत्य होता है वह बुरे-से-बुरे झूठ से भी अधिक बुरी होती है।

इसमें कुछ खास-खास उदाहरणों को रूटर ने सामान्य विचारों के रूप में पेश कर दिया। श्री गांधी ने कुछ फुटकर उदाहरण गिनाये। किन्तु

रूटर ने इन्हें इस तरह पेश कर दिया, मानो सारे भारतीयों के साथ संगीन ऐसा व्यवहार होता है और कहा मानो एक ऐसा पागल उपद्रवी है, जो साम्राज्य के लिए खतरा है। श्री गांधी का यह भाषण मेरे सामने पड़ा है जो भारत में बहुत बड़ी संख्या में वितरित किया गया है। किन्तु मुझे तो उसमें ऐसे गैरजिम्मेदार उपद्रवी आन्दोलनकारी जैसी कोई बात नहीं नजर आती। उसकी भाषा स्पष्ट जोरदार और शान्त है और उसमें कही गयी हर बात सिद्ध की जा सकती है। अगर हम चाहते हैं कि उपनिवेशों की वास्तविकतायें भारत में बताने पर क्रोध और क्षोभ उत्पन्न न हो तो इन वास्तविकताओं को ही हमें बदल देना होगा। श्री गांधी को यह कहानी सुनानी पड़ी इसके लिए उपनिवेश स्वयं जिम्मेदार है।

यह तार जब दक्षिण अफ्रीका पहुँचा, तो स्वभावतः नेटाल आग बबूला हो गया। रोषभरी विरोधी सभायें हुईं जिनमें श्री गांधी की बड़े जोरों से—सभ्य शब्दों में नहीं—निन्दा की गयी। जिस उपनिवेश ने उन्हें आश्रय दिया उसीके मुँह पर कालिख पोतने का आरोप उन पर लगाया गया। असली शब्द इस प्रकार हैं जो एक उपनिवेशवासी डॉक्टर ने डरबन के नागरिकों की एक बड़ी सभा में कहे थे और जो 'नेटाल एडवर्टाइजर' में छपे थे। दूसरी सभाओं में भी जो कुछ कहा गया था उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है।

इस डॉक्टर ने कहा: "श्री गांधी ने नेटाल के उपनिवेशवासियों पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने भारतीयों के साथ अन्याय किया, उन्हें गालियाँ दीं, लूटा और धोखा दिया। (एक आवाज—एक कुली को कभी धोखा दिया ही नहीं जा सकता!) डॉक्टर ने कहा कि वे भी नहीं मानते हैं। गांधी ने भारत लौटकर नेटालवासियों को गन्दगी में घसीटा है और उन्हें इतना काला और गन्दा बताया जितना कि खुद उनकी कौम के लोग हैं।" (तालियाँ) प्रकट ही श्रोताओं में तीव्रतम रोष था।

श्री गांधी अपने घाम में कुरे थे। कलकत्ता में एक समा का आयोजन कर रहे थे कि उन्हें नेटाल से तार पहुंचा कि वे एकदम और आयें क्योंकि लंदन का अधिवेशन शुरू होने को है। सन् १८६६ के नवम्बर की यह बात है। वे तुरन्त बम्बई आये। पहले जहाज से भेजने का प्रबन्ध किया और पत्नी तथा बच्चों के साथ एस एस कुर्लेण्ड नामक जहाज से दक्षिण अफ्रीका के लिए रवाना हो गये। कुर्लेण्ड २८ नवम्बर को बम्बई से रवाना हुआ और उसके दो दिन बाद नादेरी। इनमें भारतीय यात्री थे। दोनों जहाज एक ही दिन डरबन पहुँचे। कष्ट शुरू हुआ।

डरबन के बन्दरगाह पर पहुँचने से पहले ही स्वास्थ्य-अधिकारी ने दोनों जहाजों पर बहुत लम्बा क्वारंटाइन लगा दिया। यद्यपि जहाजों पर कोई बीमारी नहीं थी और इसके लिए कोई कारण भी नहीं बताया गया। जहाजों के एजेण्टों और कम्पनी ने केवल सम्बद्ध अधिकारियों से ही नहीं, सरकार से भी बार-बार दरख्वास्त की तब कहीं बन्दरगाह से सम्पर्क करने की इजाजत उन्हें मिल सकी। तब तक शहर में कुलेआम गोरों से तैयारियाँ चल रही थीं और प्रदर्शन हो रहे थे कि इन यात्रियों को बन्दरगाह में उतरने नहीं दिया जाय। ३ दिसम्बर के 'नेटाल एडवरटाइजर' में हैरी स्पार्क्स के हस्ताक्षर से एक सूचना प्रकाशित हुई थी जो इस प्रकार है :

"भारतीयों को जहाज से उतरने नहीं दिया जाय इस उद्देश्य से पाइंट तक एक प्रदर्शन के चलने की तैयारी करने के लिए ४ जनवरी सोमवार को सुबह आठ बजे विक्टोरिया केफे के बड़े कमरे में एक सभा हो रही है। इसमें डरबन का हर आदमी आवे। निमन्त्रक हैरी स्पार्क्स, जो एक कमीशनयाफ्ता आफीसर भी हैं प्रारम्भिक सभा के सभापति थे। सभा की उपस्थिति लगभग २ की थी। इसलिए इसे बाद में डरबन के टाउनहॉल में करना पड़ा। सभा के वातावरण का पता उसके द्वारा स्वीकृत इन प्रस्तावों से लग सकता है :

( ) इस सभा की यह जोरदार राय है कि अब वह समय आ गया

है जब कि स्वतन्त्र भारतीयों अथवा एशियावासियों के आगमन पर इस उपनिवेश में पूरी रोक लगा दी जाय। यह सभा सरकार से निवेदन करती है कि नादरी और कुर्लेण्ड पर जो एशियाई यात्री हैं, उन्हें उपनिवेश के खर्चे से वह भारत लौटाने का प्रबन्ध कर दे और अब किसी स्वतन्त्र भारतीय या एशियाई को जहाज़ से डरबन के बन्दरगाह पर उतरने नहीं दे।"

(२) सभा का हर उपस्थित सदस्य मानता है कि उपर्युक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित करने में सरकार की हर तरह से मदद करने के लिए वह जो-जो भी माँग करे, वह किया जाना चाहिए और वचन देता है कि अगर ज़रूरत हुई, तो पॉइण्ट पर जाने के लिए भी तैयार है।"

प्रस्तावों के समर्थन में दिये गये भाषणों में साफ़ साफ़ कहा गया था कि श्री गांधी ही वह आदमी हैं जो सबसे अधिक निन्दा और रोष के पात्र हैं और यह भी कि सभा में उपस्थित सब सदस्य अपने ध्येय को सिद्ध करने के लिए ज़ोर ज़बरदस्ती करने पर भी तुले हुए हैं।

तत्कालीन अटर्नी जनरल माननीय हैरी एस्कम्ब ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि सरकार इन प्रदर्शनकारियों के साथ है। किन्तु उसके मार्ग में कुछ कानूनी कठिनाइयाँ हैं। ७ जनवरी को दूसरी सभा हुई, जिसमें डॉक्टर मैकेन्ज़ी ने बताया कि श्री एस्कम्ब उसी दिन मुख्य प्रधानमन्त्री से मिले थे। इस मुलाक़ात में प्रधानमंत्री ने श्री एस्कम्ब से कहा था कि 'सरकार उनके साथ है और वह इस प्रश्न को जल्दी-से-जल्दी निपटा डालना चाहती है।" डॉ॰ मैकेन्ज़ी ने अपने भाषण में आगे कहा: "कुछ लोग कहते हैं कि क्वारण्टाइन बढ़ा दीजिये। यही तो सरकार भी करने जा रही है (हर्षध्वनि और 'जहाज़ों को डुबा दीजिये' की आवाज़)। कल रात को एक नौसेना का स्वयंसेवक कह रहा था कि यदि कोई इस जहाज़ पर एक गोला मार दे, तो मैं उसे अपनी एक महीने की तनख्वाह नज़र कर दूँ। क्या इस सभा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस सभा में हाज़िर हर आदमी अपनी एक माह की तनख्वाह देने के लिए तैयार

है ! (हर्षध्वनि और हाँ-हाँ) यदि ऐसी बात है तो सरकार समझ जायगी कि उसके पीछे कितना बल है।'

तैयारियाँ आगे बढ़ीं और पूरी व्यवस्था हो गयी। बल-प्रयोग करने को जो तैयार थे उनके नाम भी लिख लिये गये और उनका नेतृत्व करनेवालों की नियुक्तियाँ भी हो गयीं। डरबन में उत्तेजना चरम सीमा को पहुँच गयी थी। भारतीय बहुत बुरी तरह डरे हुए थे। उन्हें भय था कि किसी भी क्षण सामूहिक हिंसा फूट सकती है। आज यह कहना कठिन है कि इस प्रकार विरोध और बल-प्रदर्शन का कितना हिस्सा तो नेताओं की अपनी इच्छाएँ पूरी करने के निश्चय का परिणाम था और कितना भारतीयों को डरा धमकाकर कायरों की तरह भगा देने मात्र के लिए था। हाँ, एक बात पक्की थी। ये लोग दोनों जहाजों के यात्रियों को यह बता देना चाहते थे कि किनारे पर गोरों के विरोध का क्या हाल है। खास तौर पर तो वे गांधी को यह बताना चाहते थे कि यदि वहीं वे जहाज से उतरे तो उनका स्वागत वहाँ किस प्रकार होगा। बहुत सम्भव है कि यह सब केवल डराने के लिए ही किया गया हो। किन्तु जब भीड़ में हिंसा फूट पड़ती है तब आसानी से उस पर काबू नहीं पाया जा सकता। इधर भी गांधी और उनके साथी यात्री लौटना नहीं चाहते थे क्योंकि वे जानते थे कि उप-निवेश के निवासी भले ही जो चाहे करते रहें लेकिन कानून से वे भारतीयों के उतरने में रुकावट नहीं डाल सकते थे। जहाज पर कम-से-कम एक आदमी तो इस बात को खूब अच्छी तरह समझते हुए था।

इस बीच दोनों जहाज क्वारण्टाइन में ही पड़े थे। पत्रों और अर्जियों की बाढ़ मुतवातर जारी रही। अंत में १२ जनवरी को जहाज के मालिकों ने भी एजेण्ट को लिखा [illegible] २४ दिन हो गये जहाज बाहरी सीमा पर [illegible] पड़े हैं। हमें [illegible] पौंड प्रतिदिन के हिसाब से खर्च लग रहा है। हमें [illegible] इस आशा [illegible] है कि आप कल दोपहर तक साफ-साफ और [illegible] जवाब दे देंगे। हम आपको यह भी बता दें कि यदि उपर्युक्त समय के

अन्दर आप जवाब नहीं दे सके, तो आप हमें यह आश्वासन देंगे कि गत रविवार से प्रतिदिन १५ पौंड के हिसाब से आप हमें खर्चा देंगे और यह भी कि आप उपद्रवकारियों को दबाने का प्रबन्ध कर रहे हैं, ताकि हम जहाजों के यात्रियों को बन्दरगाह पर उतार सकें। यदि कल दोपहर तक यह भी आश्वासन हमें नहीं मिला तो जहाज तत्काल बन्दरगाह में आने के लिए रवाना हो जायेंगे। हमें विश्वास है कि इसमें सरकार से हमें अवश्य पूरा संरक्षण मिलेगा क्योंकि हम आपको आदरपूर्वक बता दें कि वह इसके लिए बँधी हुई है।

इसका जवाब तुरन्त आ गया। दूसरे दिन १०॥ बजे श्री एस्कम्ब से मिला : 'पोर्ट के कप्तान ने आज्ञा जारी कर दी है कि जहाज तैयार हो जायें। वे बारह बजे दिन को बन्दरगाह की सीमा में प्रवेश कर सकते हैं। शान्ति और व्यवस्था सम्बन्धी जिम्मेदारी की बाबत सरकार को लिखने की कोई जरूरत नहीं है।"

इस प्रकार जोर-जबरदस्ती से भारतीयों को डराकर भगा देने की धमकियाँ बेकार रहीं। हैरी स्पार्क्स ने कुर्लैंड के मास्टर को एक पत्र द्वारा डरबन के भयंकर रोष का हाल बताते हुए लिखा कि वे यात्रियों को वापस उनके देश में छोड़ दें।" श्री स्पार्क्स ने यह भी लिखा कि 'इसका खर्चा उपनिवेश दे देगा।" किन्तु इसका भी कोई असर नहीं हुआ। श्री गांधी ने सब यात्रियों को इस पत्र का मजमून समझाकर बता दिया और कहा कि आगे क्या क्या हो सकता है। उन्होंने यात्रियों को यह बात भी समझा दिया कि उनकी राय में उनका कर्तव्य यही है कि वे दृढ़ रहें। तदनुसार सबने यही निश्चय किया कि वे उनकी सलाह पर दृढ़ रहेंगे। पत्र के उत्तर में केवल यह लिख दिया गया कि 'यात्री लौटने से इनकार करते हैं।"

तारीख ११ के नेटाल एडवरटाइजर ने लिखा था : "जब यह सूचना मिली कि नादरी और कुर्लैंड बन्दरगाह में आने की हिम्मत कर रहे हैं और बुधवार के दिन दुपहर १ बजे के कुछ ही देर बाद शहर की

पहुँचा था कि उसने यात्रियों की रक्षा का क्या प्रबन्ध किया है। इसलिए कैप्टन मिल्ने ने सोचा कि सबसे पहले इसके बारे में कुछ किया जाना चाहिए। इसलिए उन्होंने जहाज के अग्रभाग में पहले तो यूनियन जैक लगवाया। इसके बाद मुख्य मस्तूल पर जहाज के अपने झण्डे से कुछ ऊपर लाल झण्डा लगवा दिया। यही लाल झण्डा जहाज के स्टर्न अर्थात् पिछले सिरे पर भी लगा दिया गया। उन्होंने अपने कर्मचारियों को हुक्म दे रखा था कि जहाँ तक संभव हो प्रदर्शनकारियों को जहाज पर चढ़ने से रोकें। किन्तु इतने पर भी यदि वे आ ही जायें तो यूनियन जैक उतारकर उसे हमला करनेवालों को सौंप दें। उनका खयाल यह था कि इस प्रकार आत्मसमर्पण कर देने के बाद कोई अंग्रेज जहाज के यात्रियों को हाथ नहीं लगायेगा। सौभाग्य से हुआ यह कि इस कदम की जरूरत ही न पड़ी। जैसे ही कुर्लैण्ड ने खाड़ी में प्रवेश किया तब यात्री यही देखने लगे कि प्रदर्शनकारी क्या करना चाहते हैं। मुख्य धक्के के दक्षिणी सिरे से लेकर उत्तरी दीवाल की दिशा में कुछ दूर तक आदमियों की एक कतार खड़ी उन्हें दीख पड़ी। किन्तु ये लोग तो बहुत शान्त थे। जहाज पर खड़े भारतीयों में भी कोई डर नहीं दिखाई दिया। श्री गांधी और उनके कुछ साथी भी डेक पर थे। वे भी शान्त थे। प्रदर्शनकारियों का मुख्य भाग तो धक्के के सामनेवाले भाग में खिड़कियों में कतार था। अन्दर आनेवाले जहाजों पर खड़े यात्रियों को ये लोग नहीं दिखाई देते थे। जैसे ही 'कुर्लैण्ड' आया और धक्के के पास आने के लिए मुड़ा, किनारे पर खड़े लोगों में आश्चर्य-सा फैल गया। यह उनकी हरकतों पर से अनुमान लगाया जा सकता था। ऐसा होता है कि उन्हें कुछ समझ में नहीं आया था कि क्या करें। इसलिए सब लोग इधर-उधर भाग रहे थे। इसी समय स्टनापर पर लाली को लन्च के लिए एकत्र होते देख सब लोग उधर चले गये। जहाज के यात्रियों ने देखा कि जिस प्रदर्शन के बारे में इतना शोर मचाया गया था, उसका अन्त किस प्रकार हुआ। इस बीच

श्री एस्कम्ब की किसी को ऑड मारकर कुर्लेण्ड की काल में ले आया गया। इस पर कैप्टन मैकी पोर्ट कैप्टन मि रीड, बाफ मास्टर और मूरिंग मास्टर मि सिम्पकिन्स भी सवार थे। अन्दर क्लास में ऊँची आवाज में कहा : "कैप्टन मिल्ने मेरी तरफ से आप अपने यात्रियों से कह दें कि नेटाल सरकार के कानूनों में मातहत वे अब यहाँ उतरने ही सुरक्षित हैं, जितने अपने देश में थे। कप्तान मिल्ने ने पूछा : 'तो क्या अब मैं इन्हें किनारे पर जाने की इजाजत दूँ ?' इसके जवाब में श्री एस्कम्ब ने कहा : 'इससे पहले वे (कैप्टन मिल्ने) उनसे एक बार और मिल लें। यही सूचना नादरी को देकर श्री एस्कम्ब किनारे की तरफ सभा में भाषण देने के लिए चले गये। अब नादरी और कुर्लेण्ड यात्रियों के उतरने के बजरे के पास खड़े हो गये। किनारे के पास पहला जहाज कुर्लेण्ड था।"

यात्रियों तो बेचारे चकित हुई। अब श्री एस्कम्ब यह चाहते थे कि भीड़ को बिखेर दिया जाय। इसलिए अब अत्यंत मीठे शब्दों में वे लोगों को समझाने लगे कि इस मामले में जो भी कुछ किया जा सकता था वह उन्होंने करके दिखा दिया। अब संसद् का अधिवेशन शीघ्र ही होगा। उसका काम है कि इस प्रश्न को वह हाथ में ले। इसके बाद उन्होंने महारानी के नाम पर सबसे अपने अपने घर जाने के लिए कहा। कुछ अन्य लोगों के भी भाषणों के बाद सब लोग लौट गये। इस तरह वह महान् प्रदर्शन समाप्त हो गया।

दो घण्टे बाद छोटी-छोटी किश्तियों में बैठकर सब यात्री किनारे पर आ गये। किन्तु श्री एस्कम्ब का एक सन्देश श्री गांधी के पास पहुँचा कि वे अभी दूसरे यात्रियों के साथ न आयें। शाम तक जहाज पर ही ठहरें। शाम को सुपरिन्टेण्डेण्ट वाटर पुलिस उन्हें किनारे पर ले जायेंगे। यह सलाह वे मान लेना चाहते थे। पर इसके कुछ ही देर बाद मेसर्स गुडरिक, ल्यटन और कुक सॉलिसिटर्स फर्म के श्री लॉटन जहाज पर आये और उन्होंने श्री गांधी से कहा कि उनके साथ वे किनारे पर चलें। दोनों

ने ध्यान से सलाह की और सारी जिम्मेदारी अपने सिर पर लेकर निश्चय किया कि चाहे कुछ भी हो, तत्काल किनारे पर जायँ। श्रीमती गांधी और बच्चों को पहले ही भेज दिया गया था और वे सही-सलामत मुकाम पर पहुँच भी गये थे। उन्हें एक धनी भारतीय मित्र पारसी रुस्तमजी के मकान पर पहुँचाया गया। सोचा यह गया कि इसी प्रकार श्री गांधी भी चले जायँ। किन्तु उतरने की जगह भीड़ कुछ अधिक थी और उसका रवैया ठीक नहीं था। श्री लॉटन ने सुझाया कि रिक्शा किराये पर ले लें। एक ले भी लिया पर लोगों ने उस सवारी को चढ़ने ही नहीं दिया। इसलिए दोनों मित्र पैदल ही रवाना हो गये। वेस्ट स्ट्रीट पहुँचे, तब तक भीड़ जुलूस बन गयी। इसके लिए आगे बढ़ना असंभव हो गया। इस धक्कमधुक्का और गड़बड़ी में दोनों मित्रों का साथ छूट गया। लॉटन को खींचकर अलग कर दिया गया और पत्थर, सड़े अण्डे और मछलियाँ बरसने लगे। उन्हें चारों तरफ से धक्के मिलने लगे। इसी समय पीछे से एक हट्टे-कट्टे यूरोपियन ने उन्हें जोर से एक लात मारते हुए कहा: "तू ही है न वह अखबारों में लिखनेवाला!" इत्तिफाक से सड़क के किनारेवाले किसी मकान का रेलिंग श्री गांधी के हाथ में आ गया और वे लगभग बेहोश हो गये। इतने में उसीने एक लात और जमायी।

ठीक इसी समय एक सुन्दर और बहादुरी की बात हो गयी जिसने इस शर्मनाक प्रसंग को शानदार रूप दे दिया। सुपरिंटेण्डेण्ट पुलिस की पत्नी श्रीमती अलेक्जाण्डर ने भीड़ में उन्हें पहचान लिया और हिम्मत के साथ उनके पास पहुँचकर उनके सिर पर अपना छाता खोल दिया ताकि पत्थरों वगैरह से उनकी रक्षा हो जाय। वे ज्यों ही आगे बढ़ने लगे उनके साथ-साथ चलने लगीं। बड़े ठीक और सहज बुद्धि के इस काम ने भी गांधी को अधिक सख्त चोटों से बचा लिया। इसी बीच एक भारतीय लड़का जोर से चिल्लाता हुआ पुलिस स्टेशन की तरफ दौड़ा कि "भीड़ गांधी की जान ले रही है।" इससे ऐन वक्त पर पुलिस के कुछ सिपाही भी आ पहुँचे।

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने भी गांधी से कहा । "वे पुलिस स्टेशन के अन्दर आ जायें, तो उनकी जान बच जायगी । किन्तु उन्हें तो रुस्तमजी की चिन्ता थी । इसलिए पारसी रुस्तमजी के यहीं चले जाना उन्होंने पसन्द किया और वहाँ वे सकुशल पहुँच भी गये । रास्ते में आगे कोई उपद्रव नहीं हुआ ।

गत हुए । मकान के सामने भीड़ बहुत बढ़ गयी । वह धमकियाँ देने लगी तथा चारों ओर से चिल्लाकर श्री गांधी की माँग करने लगी । सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जेन्डर ने अन्दर खबर भेजा कि यदि गांधी अपने मित्रों की जान बचाना चाहते हैं और चाहते हैं कि उनके मित्र का मकान जल कर खाक न हो जाय, तो उनकी सूचना के अनुसार वेष बदलकर भीड़ से होकर मकान से बाहर चले जायें । आखिर यही किया गया । एक भारतीय पुलिस का वस्त्र में अपनी पगड़ी के अन्दर धातु की एक तश्तरी सिर पर पहनकर भारतीय व्यापारी का वेष बनाये वे खुफिया पुलिस के एक आदमी के साथ उस घनी भीड़ से कुशलतापूर्वक निकल गये । उन्हें मकानों के अहातों के तारों पर कूदना पड़ा रेल की पटरियों के बीच से होकर निकलना पड़ा और एक जगह तो दूकान के भीतर होकर गुजरना पड़ा । किन्तु सकुशल निकलते गये और अन्त में पुलिस थाने पर पहुँच गये । अब तक खतरा निकल नहीं गया वहीं रहे ।

निःसन्देह इस द्वेष की जड़ में अधिकतर तो गलतफहमी ही थी और अधिकारी लोगों ने इस तिल का ताड़ बना दिया । उपनिवेशवासी समझते थे कि श्री गांधी ने बातें बहुत बढ़ाकर कहीं और उन पर झूठे-झूठे आरोप लगाये । इस पर वे चिढ़े थे । उन्हें गुस्सा इस बात पर ज्यादा था कि श्री गांधी ने इस प्रकार नेटाल को बदनाम किया था ।

किन्तु जब छपे हुए भाषण की प्रति उन्होंने देखी और यह भी देखा कि श्री गांधी ने भारत में इससे पहले जो छपाया था उससे अधिक इस भाषण में कुछ भी नहीं है तो सब महसूस करने लग गये कि उपनिवेशवासियों को इस मामले में धोखा हुआ । नेटाल मर्क्यूरी' का भी पुराना दोष चला

एक-एक दुःख छिपा गया था। फिर इन यात्रियों की संख्या असल में ८० नहीं ६ थी जिनमें से नेटाल में केवल ९ रहनेवाले थे। इन बीसों में भी सौ पुराने निवासी थे।

फिर भी ये अफवाहें जोरों-शोर फैलती रहीं और नेटाल के गोरों में उत्तरोत्तर बढ़ाती रहीं। उस समय के अधिकारी नेताओं ने उस आग को हवा दे-देकर इस हद तक बढ़ा दिया। •••

सन् १८९९ के अक्तूबर में युद्ध (बोअर युद्ध) छिड़ गया। उपनिवेश के सारे वर्गों में एक हलचल पैदा हो गयी। बड़ी उत्तेजना फैली। भारतीयों पर भी इसका असर हुआ और उन्होंने चाहा कि अपने आसपास घटने-वाली इन महान् घटनाओं में वे भी भाग लें। श्री गांधी की यह इच्छा थी कि इस कठिन प्रसंग पर यदि कौम कुछ करेगी तो इससे वह साम्राज्य के प्रति अपनी वफादारी सिद्ध कर सकेगी और साधारणतः जो यह कहा जाता है कि 'उपनिवेश पर यदि कोई संकट आ जाय तो ये भारतीय दुम दबाकर भाग जायँगे' यह झूठ साबित हो सकेगा। वे बार-बार कहा करते थे कि हम युद्ध में ही ब्रिटिश प्रजाजन बनकर अपने अधिकारों की माँग नहीं कर रहे हैं, बल्कि इससे उत्पन्न होनेवाली जिम्मेदारियों को उठाने के लिए भी उत्सुक हैं। इसलिए उन्होंने अपनी कौम को सलाह दी कि वह इस मौके पर अपनी सेवाएँ साम्राज्य को अर्पण करे और जो भी काम वह दे, वह करे। कौम ने इस सलाह का स्वागत किया और इस आशय का एक लिखित पत्र भी सरकार के पास भेज दिया गया। किन्तु सरकार ने यह कहकर उसे नामंजूर कर दिया कि 'भारतीयों की मदद की जरूरत नहीं है।'"

इस पर भी गांधी माननीय मि. जेमसन से मिले। वे संसद के सदस्य थे और श्री गांधी को अच्छी तरह जानते थे। किन्तु यहाँ भी निराशा ही हाथ पड़ी। श्री जेमसन ने इस बात को हँसी में उड़ाते हुए कहा कि "आप लोग लड़ना क्या जानें! आप तो फौज के लिए एक बोझा मात्र साबित होंगे। आपसे मदद मिलना तो दूर रहा हमें उलटे आपकी चिन्ता करनी पड़ेगी।" श्री गांधी ने कहा : "किन्तु क्या युद्ध में ऐसा एक भी काम नहीं है कि जिसे हम कर सकें! क्या अस्पतालों में मामूली नौकरों

का काम भी हम नहीं कर सकते। इसमें तो कोई बहुत बड़ी बुद्धि की जरूरत नहीं होती।" श्री जेमसन ने कहा: "नहीं, पर भी बगैर तालीम के नहीं हो सकता।"

श्री गांधी निराश तो हुए, पर उनका उत्साह कम नहीं हुआ। उन्होंने अपने मित्र श्री लाटन के सामने यह इच्छा प्रकट की। उन्होंने इसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। कहा: 'यही मौके की बात है। जरूर कीजिये। इससे हम सबकी आँखों में आप लोगों की इज्जत बढ़ जायगी और उनको फायदा भी होगा। श्री जेमसन की बातों का ख्याल न करें।' इस प्रकार सरकार को दूसरा पत्र लिखा गया पर वह भी बेकार रहा।

इस बीच संकट का दबाव बढ़ता गया। युद्ध ने अकस्मात मोड़ ले लिया और इससे नेटाल के पक्ष में भी अंधेर पड़ने लगा। अब तो हर आदमी की जरूरत हो गयी। उपवन जैसे इस सुन्दर उपनिवेश के लिए ब्रिटनों और बोअरों के बीच जीवन-मरण का युद्ध ठन गया।

घटनाएँ चित्रपट की भाँति दौड़ने लगीं: '११ अक्तूबर की बात है। सर जार्ज व्हाइट को लेडीस्मिथ में घेर लिया गया। २ नवम्बर को इस शहर से तार का सम्बन्ध भी काट दिया गया। १ को रेलवे लाइन कट गयी। नवम्बर की १ तारीख को कोलेन्सो और तुगेला के बीच का सारा मार्ग बोअरों के कब्जे में चला गया। १४ को वह प्रख्यात रेलगाड़ी घटना हुई। १८ को शत्रु एस्टकोर्ट के पास पहुँच गये। २१ को मूई नदी पर वे आ धमके। २३ को हिल्डयार्ड ने उन पर विलो ग्रेंज पर हमला किया। तब से लेकर सर रेडवर्स बुलर चिवेली में अपनी सेना को एकत्र करने में लग गये। उद्देश्य यह था कि एक जोरदार हमला करके नदी पार कर लें और लेडीस्मिथ को ले लें। वहाँ की तोपें उत्तर की पहाड़ियों के पीछे से लगातार होनेवाले हमलों और घिरी फौजों के जोरदार मुकाबले की बराबर सूचना दे रही थीं। (कॉनन डायल)

इन दिनों डरबन में बेहद उत्तेजना थी। सबको भयंकर चिन्ता थी

किन्तु कर्नल ब्रॉनस्टोन से शिष्ट दूर मिले और उन्हें समझाया कि टुगेला नदी पर हालत बड़ी नाजुक है, हर रोज वहाँ दबाव बढ़ता जा रहा है, इसलिए वहाँ आदमियों की संख्या बढ़ाना बहुत जरूरी है। तब जाकर भी गांधी के प्रस्ताव पर विचार किया गया और भारतीयों का एक [illegible] दल बनाने की मंजूरी दी गयी।

ज्योंही यह सिद्धान्त मान्य हुआ यूरोपियन अधिकारियों की समझ में यह बात आ गयी कि वास्तव में एक बहुत बड़े दल की जरूरत होगी। इसलिए इकरारबन्द मजदूरों के मालिकों से भी कहा गया कि वे अपने आदमियों को युद्ध में सेवा के लिए जाने की इजाजत दे दें। परिणाम अच्छा रहा। जब माँग हुई और इसमें देर न लगी, स्वतंत्र और इकरारबन्द भारतीयों के दल की संख्या एक हजार तक पहुँच गयी। नेताओं ने अवैतनिक रूप से काम किया और शेष को मजदूरी का वेतन दिया गया। भारतीय व्यापारियों ने सामान और वर्दियाँ देने का प्रबन्ध कर दिया और डा० बूथ स्वयं भी मेडिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट के रूप में इस दल में शरीक हो गये।

और मुँह में अन्न का कण भी डालने के लिए नहीं रुके, सीधे कोलेन्सो पहुँच गये। रातभर वहीं सेवा के काम में भिड़े रहे।

यह अनुभव सचमुच बड़ा भयंकर रहा होगा। घायलों की संख्या बहुत बड़ी थी और मरनेवालों की अन्तिम छटपटाहट और तकलीफ जिसने देखी है वह चित्त से कभी नहीं हटायी जा सकती। मैदान पर नदी के किनारे-किनारे घायलों और लाशों के ढेर-के-ढेर पड़े थे। जो मर गये थे उनकी संख्या कोई डेढ़ सौ के करीब रही होगी और सात सौ बीस घायल थे। सेवा वहाँ पुकार-पुकारकर बुला रही थी जिसका जवाब भारतीयों ने दौड़-दौड़कर दिया और इस दिशा में यूरोपियन साथियों के साथ मानो उनकी होड़ लग गयी थी।

एक घटना का उल्लेख भी गांधी कभी-कभी गर्व के साथ करते हैं। वॉय की घटना में जब जनरल रॉबर्ट्स के बहादुर लड़के को गोली लगी और उसे लाया गया तो चिवेली के बुनियादी अस्पताल पर उसे ले जाने का काम भारतीय दल को ही सौंपा गया था। यह फासला कोई सात मील का था।

कोलेन्सो की लड़ाई के बाद भारतीय दल को तोड़ दिया गया और उसे वापस डरबन भेज दिया गया। उन्हें कहा गया था कि शीघ्र ही उनकी जरूरत फिर होगी। इस बार कुछ एक हफ्ता वे काम पर रहे।

करीब एक महीने बाद स्पियनकोप की लड़ाई के पहले फिर उनकी पुकार हुई। तीन हफ्ते मोर्चे पर रहे। इस बार एक से अधिक बार वे गोलियों की सीमा के अन्दर थे। इन दो लड़ाइयों के बीच के समय में कोई चालीस भारतीय नेता सेवा की विधिवत् तालीम पाने के लिए डॉक्टरों के पास पहुँच गये थे ताकि वे अस्पताल के काम में अधिक उपयोगी हो सकें। उठानेवालों को लड़ाई के मैदान की सीमा के बाहर घायल सौंप दिये जाते। वहाँ से इन्हें कोई पच्चीस-तीस मील की दूरी पर इन घायलों को सेवा-शिविरों में पहुँचाना होता था। इनमें से एक दल के नायक भी गांधी थे। जब जनरल बुलर

भाजक हुए, तो उन्हें मरणासन्न अवस्था में गांधी को सौंप दिया गया। मैदान के अस्पताल से मुख्य अस्पताल पर उन्हींकी देखभाल में वे पहुँचाये गये। जनरल को बड़ा कष्ट था। श्री गांधी ने बताया कि उस धूप और धूल में जितनी चिन्ता के साथ उन्होंने जनरल को अस्पताल में पहुँचाया। चिन्ता इस बात की कि कहीं रास्ते में ही जनरल का प्राणान्त न हो जाय।

इसी लड़ाई की बात है। ऐन धूप का समय था। नदी के उस पार बड़ी तेजी से आदमी मर रहे थे। कोई मददगार नहीं था। तब मेजर बाटे श्री गांधी के पास आये और कहा कि उनके साथ जो बातचीत हुई है, वह वे जानते थे। यह भी कि भारतीयों को गोलियों की सीमा के अन्दर नहीं बुलाया जायगा। "परन्तु यह समय बड़ा नाजुक है। मदद की अत्यंत आवश्यकता है। मैं आपसे आग्रह तो नहीं कर सकता पर यदि आपका दल पुल पार कर उस पार जा सके और वहाँ से घायलों को ला सके, तो हमें बड़ा सहारा मिलेगा। पुल तो तोप के गोलों की सीमा के अन्दर था जो मालवाली पहाड़ी पर रखी हुई थी। भारतीय नेता ने अपने साथियों से पूछा : "क्या आप लोग वहाँ जा सकेंगे ?" और बिना हिचक के उन्होंने जवाब दिया "जरूर" और और मौत की परवाह किये पुल को पार कर वे उस पार चले गये और वहाँ से काम शुरू कर दिया। किसीको पहाड़ी पर जाने को नहीं कहा गया। परन्तु इसकी जरूरत ही नहीं थी। नीचे ही बहुत काम था। इतना कि स्पिओंकॉप और फ्रीर के मुख्य अस्पताल के बीच घायलों को ले जाने का काम कई घण्टों तक होता रहा। उस दिन इन भारतीयों ने जो काम किया उसके कारण हमारे बहुत-से सिपाहियों के प्राण बच गये।

एक बार और बाक मारटन में गोलों की बौछार में काम करना पड़ा था। कभी कभी तो इनके सामने बहुत थोड़ी दूर पर गोले आकर गिरते। अस्पताल के नौकर, भिश्ती, नर्स, घायलों के उठानेवाले जितने जिसी काम से इस समय इनकार नहीं किया हर काम खुशी से किया। यद्यपि अनेक

पर उनका अपमान भी हुआ, गोरों की सीमा में भी चलना पड़ा; फिर भी अपना काम उन्होंने बड़ी मुस्तैदी से किया। विरोधियों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

दक्षिण अफ्रीका में लड़ाई के मैदानों पर ब्रिटिश भारतीयों ने जो काम किया उसको कहीं स्वीकार भी किया गया है और जो मरे हैं उनका सम्मान हुआ है। इस महायुद्ध में जो भारतीय मारे गये थे उनकी स्मृति में जोहान्सबर्ग के पड़ोसवाले टीले पर एक भारी-भरकम स्मारक खड़ा भी किया है जिसके लिए वहाँ की जनता ने भी कुछ चन्दा दिया है। जिस समय हम लोग एक बहुत बड़े संकट में फँस गये थे तब 'हमारे साम्राज्य के पूर्ववाले पुत्रों ने'—जिनके साथ श्री गांधी और उनके सेवादल ने काम किया था—बड़ी सेवायें की थीं। इन सेवाओं के प्रति जो कृतज्ञता की एक-एक लहर उमड़ पड़ी थी उसका परिणाम यह स्मारक था। समझ में नहीं आता कि इसी स्मारक की नाक के नीचे भारतीयों को क्यों जेल में बन्द किये जा रहे हैं और उन्हें बरबाद किया जा रहा है? जिस भूमि के लिए उन्होंने अपना खून बहाया है, वहाँ वे ब्रिटिश नागरिकता का हक माँगते हैं इसलिए? यह कोई अपराध है?

स्मारक एक स्तम्भ के रूप में है जो नीचे चौड़ा है और ऊपर सँकरा होता चला गया है। उसकी पूर्व की बाजू में संगमरमर पर अंग्रेजी, उर्दू और हिन्दी में ये शब्द खुदे हैं :

> ब्रिटिश अधिकारी वारण्ट अधिकारी एन सी ओज़
> और अन्य पशु-वैद्य सहायक कर्मचारी मजदूर और भारतीय
> फौज के सफरवाले आदमी—आदि सबकी पवित्र स्मृति में, जो
> दक्षिण अफ्रीका में सन् १८९९ और १९ २ के बीच लड़ाई
> में मारे गये।

स्मारक की दूसरी बाजुओं पर तीन तख्तियाँ लगी हैं, जिन पर लिखा है :

मुसलमान ईसाई पारसी हिन्दू, सिख। • • •

लड़ाई के बाद जब श्री गांधी थोड़े दिन की यात्रा करके भारत से लौटे, तो उन्हें शायद पहली बार अनुभव हुआ कि उन्होंने जिस काम को उठाया है वह कितना महान् है। १ जनवरी १९०३ को वे प्रिटोरिया पहुँचे। तब तक वहाँ सब कुछ बदल गया था। अधिकारी सब नये आ गये। उनके पास कोई पहुँच नहीं थी। एक एशियाटिक महकमा खुल गया था उसके वाक्यों में भारतीयों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। उपनिवेश-सचिव श्री डेविडसन थे। उनसे सम्पर्क करने का श्री गांधी ने प्रयत्न किया पर असफल रहे। पहले स्थानीय भारतीयों ने भी प्रयत्न किया था पर उन्हें भी सफलता नहीं मिली। बार-बार प्रयत्न करने पर कहीं एक सज्जन से मुलाकात हो सकी और उसने इन्हें शिष्टतापूर्वक अपने सहायक के पास भेज दिया। किन्तु इस सहायक उपनिवेश-सचिव में तो शिष्टता भी नहीं थी। उसने स्थानीय भारतीयों को बुलवाकर उन्हें डाँटा कि उन्होंने अपने नेता को ट्रान्सवाल क्यों बुलवाया। उनके हितों की रक्षा करने के लिए वह स्वयं (सहायक उपनिवेश सचिव) बैठा तो है। उसने उन्हें यह भी कहा कि वह श्री गांधी को ट्रान्सवाल में देखना पसन्द नहीं करता। फिर वह श्री गांधी की ओर मुड़ा और उन्हें इस उपनिवेश में आने पर खूब फटकारते हुए कहा कि यहाँ उनके आने की कोई जरूरत नहीं है। भारतीयों को चाहिए कि वह उन्हीं से सलाह लें। परिस्थिति को समझने की उसने जरा भी कोशिश नहीं की। उसने कहा, मैं आपसे मिलना नहीं चाहता और सम्बन्ध में भी नहीं करना चाहता।

इससे भी ... बार यहाँ ... बनाया गया। महामाननीय चेम्बरलेन उन दिनों दक्षिण अफ्रीका के दौरे पर थे। उस सिलसिले में भारतीयों

का एक शिष्ट-मण्डल अपने नेता के साथ उनसे मिला था। श्री गांधी को भारत से जो जल्दी बुलवाया गया शायद उसका एक हेतु यह भी था। प्रिटोरिया में भी इसी प्रकार एक शिष्ट मण्डल श्री चेम्बरलेन से मिला। किन्तु अधिकारियों ने श्री गांधी का नाम इसमें से हटा दिया। फिर जोहान्स बर्ग की म्युनिसिपल कौंसिल ने नयी बस्ती अथवा 'बाजार'* के सिलसिले में वहाँ के खास-खास भारतीयों से बातचीत करना चाहा तब भी भारतीयों द्वारा भेजी गयी सूची में से श्री गांधी का नाम काट दिया गया था। लेकिन इस मामले में भारतीयों ने साफ-साफ कह दिया कि यदि उनके मुख्य सलाहकार को शिष्ट-मण्डल में नहीं रखा जाता तो वे खुद भी कौंसिल से बातचीत नहीं करना चाहते। तब उनकी बात मान ली गयी। फिर भी उनको यह निश्चय तो हो ही गया कि सरकारी अधिकारियों ने श्री गांधी से कठोर युद्ध ठान दिया है और यदि उनका बस चले, तो ट्रान्सवाल में एशियावासियों सम्बन्धी राजनीति से उनके प्रभाव को एकदम नष्ट कर देना चाहते हैं। किन्तु भारतीय समाज जानता था कि अधिकारी वर्ग के लिए ऐसा करना अस्वाभाविक नहीं था क्योंकि कानून का अच्छा ज्ञान निष्कलंक चरित्र और व्यापक अनुभववाला एक भी आदमी यदि उनके बीच आ गया तो फिर उन्हें इस तरह जानवरों की तरह मनमाने तौर पर कोई रोक नहीं सकेगा या उनसे तिरस्कारपूर्वक पेश नहीं आ सकेगा। इसके अतिरिक्त अधिकारी वर्ग के व्यवहार में जो कड़ाई आ गयी है वह भी टिक न सकेगी। अधिकारी वास्तव में श्री गांधी से डरते थे, क्योंकि वे स्वयं अनुभव करते थे कि उनके मुकाबले में वे सब कमजोर और बहुत छोटे थे। इसलिए उनका यहाँ आना अधिकारियों को यदि अखरे, तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं था। लेकिन यह निष्कर्ष सही हो या गलत अधिकारियों ने जो व्यवहार धारण किया वह निस्सन्देह अत्यन्त मूर्खतापूर्ण था।

* भारतीयों को शहर से अलग बस्ती में बसाया जाता है। उसे बाजार कहते हैं।

भारतीयों का अपने नेता पर पूर्ण विश्वास था और आज भी है। उनकी कीमत वे जानते हैं और इसलिए उसे खूब प्यार भी करते हैं। अतः यदि उनकी कहीं अवहेलना या अपमान होता है, तो अधिकारियों के बारे में उनका सन्देह बढ़ जाता है और उनका यह निश्चय और भी दृढ़ हो जाता है कि उन्हें कभी नहीं छोड़ें। इसका परिणाम क्या होगा, यह कहना कठिन नहीं है। एक तरफ दुश्मनी और मूर्खता है और दूसरी तरफ अविश्वास और दृढ़ निश्चय है। इसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित रूप से गृह-युद्ध की स्थिति निर्माण हो गयी है, जो सारे देश के लिए अपमान जनक की बात है। अगर सरकार पक्ष में विवेकशील और सज्जन लोग होते पूर्व के लोगों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए—इस नाजुक बात का उन्हें ज्ञान और भान होता उनके विचार और मानस को वे समझने का कष्ट उठाते 'कुली' की तरह उनसे बर्ताव न करते तो यह सारी मुसीबत टल जाती। किन्तु अधिकारियों की मूर्खता, वर्ण-द्वेष और घमण्ड ने सारा मामला बिगाड़कर रख दिया है।

भारतीय समाज इस बात को अच्छी तरह समझ गया है कि श्री गांधी को ट्रान्सवाल में ही रहना चाहिए और इस लड़ाई को मौके पर पहुँचाना है। इस लड़ाई का मैदान सुप्रीम न्यायालय होंगे। इसलिए उन्हें ट्रान्सवाल के न्यायालयों में वकालत करने की इजाजत भी मिलना जरूरी था। यह सबसे पहला कदम था। अतः इसके लिए अर्जी भेज दी गयी और सन् [illegible] के अप्रैल में ट्रान्सवाल के सर्वोच्च न्यायालय में वकालत करने की इजाजत उन्हें मिल भी गयी।

अब भारतीयों का पक्ष स्पष्ट है। वे मानते हैं कि एशियाटिक विभाग का निर्माण ब्रिटिश नागरिकता के सिद्धान्त और न्याययुक्त शासन के विरुद्ध है। इसलिए इसका डटकर विरोध होना चाहिए। बोअरों के पुराने राज्य शासन में भी भारतीयों को बहुत तकलीफें उठानी पड़ी थीं पर तब इस तरह का कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं था। ब्रिटिश शासन आ जाने पर

युद्ध के पहलेवाली नीति को अधिक विकसित किया गया, जिसका उद्देश्य यह है कि समस्त एशियावासियों को एक अलग वर्ग माना जाय और उन्हें समाज के बाहरी समझकर उनके लिए तदनुसार अलग कानून बनाये जायँ। इस प्रकार अब हम समझ सकते हैं कि सन् १९०७ का एशियाटिक अमेंडमेंट एक्ट (संशोधित एशियाई कानून) इस भेद नीति का स्वाभाविक परिणाम था। उसके अन्दर यही अपमानजनक नियन्त्रण और उन्हें अपराधपेशा बतानेवाली छाप भी है। सन् १९०७ में यह नीति निश्चित हो चुकी थी।

श्री गांधी का उद्देश्य यह है कि भारतीय कौम को ट्रान्सवाल के उपनिवेश के एक उपयोगी अंग के रूप में शामिल कर लिया जाय और उसके सदस्यों को साम्राज्य के सच्चे नागरिकों के रूप में मान लिया जाय। पर हर चीज, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अलग मानकर दूर किया जाता है और उन्हें ब्रिटिश नागरिकता के लिए अयोग्य मान लिया जाता है, एक गष्ट की हैसियत से अपनी कौम के लिए अपमानजनक और हानिकर तथा ब्रिटिश न्याय का उपहास-सी लगती है। इस नीति का अपनी पूरी शक्ति के साथ विरोध करने का वे निश्चय कर चुके हैं।

आज में सब ब्रिटिश भारतीय प्रजाजन के पास से ट्रान्सवाल के निवासी हैं। इस बारे में वे हैं [illegible] सरकार से परवाने मिले हैं जिनके लिए उन्होंने कानून के अनुसार पा[illegible] ३ से लेकर २५ पौंड तक कर दे दिया है या शान्ति-रक्षा-अध्यादेश के अनुसार उनके पास सरकारी परवाने होने के कारण यहाँ रहने का उन्हें अधिकार है ऐसा मान लिया गया है। इनमें से बहुतेरे आदमियों की यहाँ बड़ी बड़ी दूकानें हैं। ऐसे लोग भी बहुत से हैं जिनका जन्म इसी देश में हुआ है। [illegible] के [illegible] और इन्हें नागरिकता के अधिकार [illegible] नहीं को [illegible] का [illegible] है।

इस में दोनों पक्ष एक-दूसरे को [illegible] को नजर से देखने लगे हैं जिससे कारण एक [illegible] नहीं रही है। कभी-कभी [illegible]

अन्याय और अपमान करने का कोई कारण भी नहीं रहा यहाँ भी उन्हें इनका सन्देह होने लग गया है और इस कारण वे गलत निर्णय पर पहुँच जाते हैं। दूसरी तरफ वे शुरू से देख रहे हैं कि परिस्थितिक विषय भी गांधी को अपना दुश्मन समझकर उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करता रहा है। इस बीच का फल सिवा पारस्परिक अविश्वास और रोष के और क्या हो सकता है? अभी इनका अन्त नहीं हुआ है। ब्रिटिश शासन ने ट्रान्सवाल में उनके साथ जैसा सलूक किया है, उससे उनके दिलों में सिवा अविश्वास और रोष के और कुछ हो ही नहीं सकता।

लार्ड मिल्नर ने उन्हें जो आश्वासन दिया था उसका पालन नहीं किया गया है। वे ट्रान्सवाल में ब्रिटिश सरकार के हाई कमिश्नर (उच्चायुक्त) रहे हैं। वे एक बड़े अधिकारी पुरुष थे अतः उनके शब्दों का बहुत अर्थ होता है। उन्होंने नीचे लिखी विधिवत् घोषणा की थी :

"मेरा ख्याल है कि नाम दर्ज करना लेने में एक प्रकार का संरक्षण है। इसके लिए तीन पौंड का शुल्क रखा गया है। यह केवल एक बार लिया जाता है। जो पुरानी सरकार को यह दे चुके हैं, उन्हें केवल प्रमाणित कर देना है कि वे यह कर दे चुके हैं। फिर उन्हें यह दूसरी बार नहीं देना होगा। फिर एक बार नाम दर्ज हो गया कि उनकी स्थिति निश्चित हो जाती है। फिर दूसरी बार न तो नाम दर्ज करवाने की जरूरत है और न नया परवाना जारी करवाने की। एक बार नाम दर्ज करवा लेने पर उन्हें यहाँ बस जाने का और जब चाहें, तब यहाँ आने-जाने का अधिकार भी मिल जाता है।

इस आश्वासन के अनुसार जिन लोगों ने फिर एक बार और भी अपने नाम स्वेच्छापूर्वक दर्ज करवा लिये थे उन पर भी मामले चलाये गये हैं और उन्हें जेल की सजाएँ हुई हैं। यह है ब्रिटिश न्याय का नमूना! कितनी निर्लज्जता के साथ यहाँ अपने ही वचन का भंग किया गया है!

भारतीयों को शिकायत है कि इसी प्रकार एक बार और वचन तोड़ा गया है। नेता लोग जेल में थे तब जनरल स्मट्स के साथ उनका एक समझौता हुआ था जिसमें भारतीयों से कहा गया था कि वे फिर एक बार स्वेच्छा पूर्वक अपने नाम दर्ज करवा लें। इसी वर्ष ५ फरवरी को स्वयं उपनिवेश-सचिव ने रिचमण्ड के भाषण में जो शब्द कहे थे वे ध्यान देने योग्य हैं।

उन्होंने कहा था : 'भारतीयों का दूसरा कथन यह है कि यह कानून हमारे लिए कष्टजनक और अपमानजनक है। जब तक यह रद्द नहीं होगा हम अपने नाम दर्ज नहीं करवायेंगे। मैंने उनसे कहा कि जब तक इस देश में एक भी ऐसा भारतीय पाया जायगा जिसने अपना नाम दर्ज नहीं करवाया है, तब तक कानून रद्द नहीं किया जायगा। भारतीय नेताओं ने समझ से काम लिया। कानून को रद्द करने की शर्त उन्होंने हटा दी। जब तक प्रत्येक भारतीय अपना नाम दर्ज नहीं करवा लेगा कानून रद्द नहीं होगा।

इस प्रकार समझाये जाने पर और इस जबानी आश्वासन पर भी कि इस कानून को रद्द करने के लिए एक विधेयक संसद् के अगले अधिवेशन में पेश कर दिया जायगा भारतीयों ने नाम दर्ज करने से पहले कानून को रद्द करनेवाली अपनी शर्त हटा ली और अपने नाम दर्ज करवा दिये। इस प्रकार अपनी तरफ से समझौते का पूरा-पूरा पालन कर दिया। यही नहीं बल्कि सरकार का काम आसान करने की इच्छा से वे एक कदम और आगे बढ़ गये। सर्वसाधारण को प्रोत्साहन देने के लिए नेताओं ने भी अपनी उँगलियों के निशान दे दिये। किन्तु जब यह काम पूरा हो गया और सरकार का मतलब सिद्ध हो गया तो उपनिवेश-सचिव ने अपने वचन का पालन करने से साफ इनकार कर दिया। जनरल स्मट्स ने संसद् में कहा : "इसमें शायद कोई गलतफहमी हो गयी है।" प्रतिवादी कहते हैं : "यह साफ-साफ वचन-भंग है।

लॉर्ड सेल्बोर्न ने सम्राट् को उस विधेयक पर अपनी मंजूरी देने

की इजाजत दे दी है, जिसमें एक संपूर्ण राष्ट्र को अपराधी करार दे दिया है। इस कानून के अनुसार उन्हें मनमानीपूर्वक देश से निकाला जा रहा है, उनसे जुरमाने वसूल किये जा रहे हैं और उन्हें कैद किया जा रहा है। अब ब्रिटिश न्याय में उन्हें रत्तीभर भी विश्वास नहीं रह गया है। पूरी एक पुश्तभर बहुत समझदारी के साथ सुशासन होगा तब जाकर कहीं भारतीयों में पुनः यह विश्वास उत्पन्न हो सके तो हो।

• • •

सन् १९०४ के प्रारंभ में यहाँ बड़ी वर्षा हुई। जोहान्सबर्ग में चारों तरफ पानी ही पानी हो गया। सात दिनों तक लगातार वर्षा होती रही। सब शहर जलमय हो गया। इसके बाद प्लेग का प्रकोप हुआ। शुरू शुरू में कुछ समय तो म्युनिसिपल अधिकारियों की समझ में ही नहीं आया कि यह कौनसी बीमारी है। इस कारण आवश्यक सावधानी नहीं रखी जा सकी। किन्तु श्री गांधी को भारत का अनुभव था। वे जान गये कि यह तो प्लेग है। उन्हें यह भी निश्चय हो गया कि पुरानी बस्तियों में जो गन्दगी है—और जिसके लिए वे म्युनिसिपैलिटी को जिम्मेदार मानते थे—उसके कारण बीमारी और भी जोर पकड़ेगी। अपने ये विचार उन्होंने म्युनिसिपैलिटी को लिखकर उसे सावधान भी कर दिया। किन्तु उसने इसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। अंत में देखा कि स्वाभाविक था बीमारी बहुत जोर से बढ़ गयी इतनी कि तत्काल उसके प्रतीकार के उपाय करने पड़े।

'इण्डियन ओपीनियन' के सम्पादक श्री मदनजीत उन दिनों जोहान्सबर्ग में ही रहते थे। १८ मार्च को भारतीयों की बस्ती में फिरकर एक चिट्ठी उन्होंने श्री गांधी को लिख भेजी जिसके अन्दर बड़ी चिन्ताजनक खबरें भरी थीं। ऐसा ज्ञात हुआ कि आसपास की खानों में से बीमार भारतीयों को यहाँ बड़ी संख्या में लाया जा रहा था—इनमें से कुछ तो इस बीमारी से मर गये थे और कुछ मरने जैसी हालत में थे। उस दिन तेईस आदमी यहाँ पहुँचाये गये, जिनमें से इक्कीस मर गये थे।

यह समाचार मिलते ही श्री गांधी ने मामले को तुरंत अपने हाथ में ले लिया। उसके पहले उन्होंने यह समाचार डॉ॰ पैक्स और टाउन क्लर्क के पास भेज दिया। पैक्स उन दिनों स्वास्थ्य-अधिकारी का काम देखते थे।

फिर अपने साथ एक इन्स्पेक्टर (निरीक्षक) को लेकर श्री गांधी सबसे खतरे के स्थान पर पहुँच गये और वहाँ प्रत्यक्ष मृत्यु से युद्ध छेड़ दिया। श्री मदनजित और चार भारतीय स्वयंसेवकों की सहायता से उन्होंने एक खाली मकान को खोल लिया। उसे अस्पताल बना दिया और तमाम मकानों में से बीमारों को वहाँ ले आये। डॉ॰ गॉडफ्रे भी वहाँ पहुँच गये। वे भी भारतीय हैं। इन्होंने भी उस दिनभर और अगली रात में भी अथक परिश्रम के साथ बीमारों की सेवा की। बीमार लोगों को अलग ले जाकर रखने में इन लोगों ने जो तत्परता और फुर्ती की उसके कारण जोहान्स-बर्ग एक बहुत बड़े संकट से बच गया।

उस रोज दोपहर बाद टाउन क्लर्क ने भी गांधी के साथ बस्ती के भीतर एक सभा की और उसमें उन्होंने जो महान् कार्य किया था उसके लिए उन्हें धन्यवाद दिया। किन्तु साथ ही यह भी कहा कि उस दिन बीमारों के लिए इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकेगा। उन्होंने कहा कि वे बीमारों को श्री गांधी की देखभाल में छोड़ देंगे और यदि कुछ खर्च करने की जरूरत हुई, तो उसके लिए उन्हें अधिकार भी दे गये और अब इनके लिए उपयुक्त स्थान कल ढूँढ लिया जायगा' यह कह-कर वे चले गये।

इस छोटे से लोकप्रसिद्ध दल के लिए यह एक बड़ा भयंकर प्रसंग था। संकट की गम्भीरता को पहचानकर भारतीयों ने तत्काल एक तरफ की ओर इस काम के लिए चन्दा एकत्र किया। भारतीय दूकानदारों ने आवश्यक चीजें दे दीं। और भी जो जो कुछ किया जा सकता था, सब किया गया। किन्तु रातभर बीमार तड़प-तड़पकर मरते जाते थे जब कि दूसरे लोग छूत लग जाने के डर से इनके पास भी आने की हिम्मत नहीं कर रहे थे। तब भी गांधी के व्यक्तिगत प्रभाव और डॉ॰ गॉडफ्रे की अनन्य सेवा-वृत्ति से प्रेरित ये मुट्ठीभर स्वयंसेवक बहादुरी के साथ अपने काम पर डटे रहे।

रैंड की प्लेग कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है : "ता॰ १८ मार्च

की शाम को श्री गांधी, डॉ० गॉडफ्रे और श्री मदनजित ने इस काम में दिलचस्पी ली। जितने भी बीमार थे उन सबको वे 'कुली लोकेशन'* के प्लॉट नं० ११ पर ले गये। कुछ बिस्तर, कम्बल और मॉम-मुँगवाकर अन्य और इन पीड़ितों को जितना आराम पहुँचाया जा सकता था, पहुँचाया।

'ता० १९ को सुबह साढ़े छह बजे इस टिप्पणी का लेखक और डॉ० मैकेन्जी स्थल पर गये और हमने देखा कि १० मरीज या तो मर चुके हैं या मरने की तैयारी में हैं।

"इसी दिन अर्थात् शनिवार ता० १९ को और भी बीमारों को प्लॉट नं० ११ पर, जो खाली पड़ा था, ले जाया गया। इनके इलाज और खाने का तात्कालिक प्रबन्ध श्री गांधी के आज्ञानुसार स्थानीय भारतीयों ने ही कर लिया।"

उन भयंकर दिनों में जो यह शानदार काम किया गया उसका सरकारी तौर पर केवल इतना उल्लेख सरकारी कागजों में किया गया है।

ता० १९ के दिन सुबह मेयर के आदेश के फलस्वरूप पुराना बाजार पर (कस्टम हाउस) म्युनिसिपल कौंसिल ने कब्जा कर लिया, ताकि इन बीमारों को वहाँ रखा जा सके। उसे साफ करके अस्पताल के लायक बना लेने का काम भारतीयों पर ही छोड़ दिया गया। बीस आदमी तुरन्त इस काम में भिड़ गये और बहुत थोड़े समय में उन्होंने उसे अपने काम के लायक बना लिया तथा बीमारों को वहाँ ले भी आये। जोहान्सबर्ग अस्पताल से एक नर्स (परिचारिका) वहाँ भेज दी गयी और इनकी देखभाल डॉ० पेक्स के सिपुर्द कर दी गयी। किन्तु शनिवार को लाये गये पचीस मरीजों में से रविवार की रात तक केवल पाँच जिन्दा बचे थे। इसके बाद प्लेग के बीमारों को रैम्सफोन्टीन, क्लाइवेडो ले जाया गया। जिनके बारे में शक था, ऐसे बीमारों के लिए क्लिपस्प्रूट में एक अलग शिविर खोल दिया

* दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के लिए जो अलग बस्तियाँ होती थीं, उन्हें कुली लोकेशन अर्थात् 'कुलियों की बस्ती' कहा जाता था।

गया था, जिसकी देखभाल का काम भी गांधी और डॉ॰ गॉडफ्रे को सौंप दिया गया।

इन सज्जनों के अलावा भी एल॰ डब्ल्यू॰ रिच ने इस समय अनमोल सेवा की है। इन दिनों हम इन्हें साउथ अफ्रीका ब्रिटिश इण्डियन कमेटी के मन्त्री के रूप में खूब जानते हैं। किन्तु इनका नाम लन्दन में इस प्रसंग के बाद से ही इतना सुना जाने लगा है। तब ये भी गांधी के साथ काम करते थे और अपनी इस सेवा पर उन्हें बड़ा गर्व था।

अपनी जान को बहुत भारी जोखिम में डालकर और बड़े भक्तिभाव से भी रिच ने प्लेग के इन बीमारों की सेवा की है। यह विलक्षण बुद्धिवाला युवक आजकल उतनी ही लगन से भारतीयों की सेवा अपने देश में रह-कर कर रहा है।

यह संकट लगभग महीनेभर रहा। इस अवधि में जोहान्सबर्ग में कुल एक सौ तेरह मनुष्य मरे। इनमें पचीस गोरे, पचपन भारतीय, चार अन्य रंगीन जातियों के और उन्नीस देसी (अफ्रीकी) थे। किन्तु शुरू के कठिन दिनों में जो तत्परता दिखायी गयी उसने इस बीमारी की ताकत को बहुत कुछ तोड़ दिया था। अब तो सब ठीक हो गया और जोहान्सबर्ग को उस संकट का स्मरण भी नहीं है। उन मुट्ठीभर भारतीयों ने उसकी जो सेवा की उसे तो एकदम भुला दिया गया है।

किन्तु जो जानते हैं उन्हें एक दूसरी ही कहानी याद आ रही है :

'उसके अन्दर एक गरीब, किन्तु समझदार आदमी भी था। उसने अपनी बुद्धिमानी से सारे शहर को बचा लिया। लेकिन बाद में तो सभी सब भूल गये।

इतिहास अपने-आपको दोहराता रहता है न!

●●●

दक्षिण अफ्रीका में श्री गांधी ने जो काम किये, उनमें उनके नाम के साथ दो काम सदा याद रहेंगे। एक तो सन् १९०३ में अपने लोगों के बीच 'इण्डियन ओपीनियन' द्वारा जो प्रचार-कार्य शुरू किया, यह और दूसरा टॉल्स्टॉय के सिद्धान्तों पर वह छोटी-सी भारतीय बस्ती, जहाँ से आजतक 'इण्डियन ओपीनियन' प्रकाशित होता है। इन दोनों ने भारतीय कौम को बड़ा प्रभावित किया है।

श्री गांधी सचमुच एक स्वप्नद्रष्टा हैं। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के बारे में अपने दिमाग में एक सुन्दर चित्र उन्होंने बना रखा है। वे चाहते हैं कि समान आदर्श और समान हित के आधार पर वे सब एक होकर रहें, अच्छी शिक्षा पावें, नीतिमान् बनें और भारत की महान् प्राचीन संस्कृति के योग्य चरित्र अपने-आपको सिद्ध करें। फिर भारती राज्य को कभी भी न छोड़ते हुए यहाँ इस प्रकार हर काम करें कि दक्षिण अफ्रीका को उन पर गर्व होने लगे और वह उन्हें वे सारे अधिकार उनके हक के तौर पर दे दे, जो एक सिविल प्रजाजन को होने चाहिए। यह है उनका स्वप्न। वे इस सपने को सच्चा करना चाहते हैं या इस प्रयत्न में मर जाना चाहते हैं। अपने भाइयों की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिए अथवा उन्हें नीचा गिराने या गुलाम बनाये रखने के जो-जो भी प्रयत्न हो रहे हैं, उनको असफल करने के उनके सारे प्रयासों की जड़ में उनका एकमात्र उद्देश्य यही है।

किन्तु श्री गांधी एक व्यावहारिक स्वप्नद्रष्टा हैं। जैसे-जैसे उनका काम कुछ स्वरूप ग्रहण करने लगा, उन्होंने देखा कि वे इसमें तभी सफल हो सकेंगे, जब दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशों में बिखरे पड़े अपने तमाम देश

भारतीयों के साथ उनका निजि का नजदीक सम्पर्क होगा। इसलिए खूब सोच-विचार के बाद उन्होंने 'इंडियन ओपीनियन' का प्रकाशन शुरू कर दिया।

डरबन में पहले ही से एक छापाखाना भी मदनजित की देख भाल में चल रहा था। वे किसी समय बम्बई में शिक्षक थे। आगे चलकर किसी समय शायद इसकी जरूरत हो, यह सोचकर इसकी कीमत का अधिकांश भाग भी गांधी ने ही चुकाया था। यह छापाखाना इस समय काम में आ गया। श्री म. ह. नाजर ने तुरन्त अवैतनिक रूप में संपादन का काम करना स्वीकार कर लिया। ये बड़े संस्कारशील सज्जन थे। बम्बई विश्वविद्यालय के आनरर मेजुएट होने के अलावा संपादन-कला के अनुभवी थे। पूरी तरह से जाने-बूझे और तपे-तपाये। किन्तु दो वर्ष बाद ही इनकी मृत्यु हो गयी, जिससे कौम की बड़ी हानि हुई। खैर, तो श्री नाजिर की सेवायें स्वीकृत कर ली गयीं। यह तय हुआ कि श्री गांधी इस पत्र की कुछ आर्थिक सहायता कर दिया करेंगे और उसके अंग्रेजी विभाग के लिए नियमपूर्वक लिखते रहेंगे। इस प्रकार पत्र का पहला अंक निकल गया।

यह साहस जरूरी था, किन्तु बड़ा महँगा साबित हुआ। कौम के लिए यह एकदम नयी चीज थी। इसलिए शुरू-शुरू में इसका महत्व लोग अच्छी तरह समझ नहीं पाये। अधिकांश भारतीयों की पढ़ने-लिखने में कोई खास रुचि नहीं थी। लोगों में रुचि-निर्माण होने में समय भी लगता है। फिर यह अंग्रेजी तमिल, गुजराती और हिन्दी में प्रकाशित होता था और ग्राहक-संख्या बहुत कम थी, इसलिए खर्च बहुत आने लगा।

लेकिन अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए श्री गांधी को यह इतना जरूरी मालूम हुआ कि पहले वर्ष में उन्होंने अपनी निजी आय में से लगभग २ पौंड खर्च कर डाले। संयोगवश इसमें से २६ पौंड उन्हें जोहान्सबर्ग की म्युनिसिपैलिटी से ठीक जरूरत के वक्त पर मिल गये

थे। इन्होंने उस पर कुछ मामले दायर किये थे। इनकी मुकदमानी के क्रम में उन्हें यह रकम दिलवायी गयी थी।

तब से 'इण्डियन ओपीनियन' भारतीय कौम की बहुत ही अच्छी सेवा करता रहा है। निस्सन्देह उसके बगैर सत्याग्रह तो असंभव ही था। घोर-विरोध में यह एक जबरदस्त शक्ति का काम कर रहा है। श्री पोलक जैसे योग्य और सुसंस्कृत व्यक्ति के सम्पादन में यह और भी अधिक काम करेगा। किन्तु एक वर्ष में ही इसमें इतना अधिक घाटा आया कि श्री गांधी को लगा कि या तो इसे बन्द कर देना चाहिए या इसे पूरी तरह से अपने हाथ में लेना चाहिए। उन्होंने यह दूसरा मार्ग पसन्द किया और उसका पूरा भार अपने सिर पर ले लिया किन्तु यह कभी अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सका। इसलिए श्री गांधी के सिर पर यह सदा एक बोझ ही बना रहा है।

सन् १९०४ में श्री गांधी ने एक और स्वप्न देखा। स्वयं उन्होंने उसके बारे में यों लिखा है : "प्लेग के बाद एक बार मैं अपने चचेरे भाइयों से मिलने टोंगाट गया। यह नेटाल में है। मैंने उनकी दूकान देखी। किन्तु मुझे उससे अधिक आकृष्ट तो उनके एक एकड़ के बगीचे ने किया जो उनके मकान के पीछे था। इसमें कुछ फल के पेड़ भी थे। वे इतने सुन्दर थे और जमीन से इतने अधिक लाभ की सम्भावनाएँ मुझे दिखीं कि मुझे लगा कि मेरे ये भाई बेकार अपना समय दूकान के पीछे बरबाद कर रहे हैं। उनके आसपास बगीचे में ही कितना काम था और वहाँ कितना सौन्दर्य है। बगीचे का काम वे मजदूरों से कराया करते थे अतः वह अच्छा नहीं हो रहा था। इनके बजाय वे स्वयं क्यों न काम करें? निस्सन्देह इससे अधिक अच्छी तरह वे करते। वहाँ जाते समय मैं रस्किन का 'अण्टु दिस लास्ट' पढ़ रहा था। मुझ पर उसका भी बड़ा असर हुआ। मुझे लगा कि इस स्वप्न को शायद सच्चा किया जा सकता है।"

छगनलाल गांधी के साथ यहाँ एक और भाई भी आ गये थे जिनकी दूकान एक शहर में थी। इन दोनों के साथ इस कल्पना पर चर्चा हुई।

उस एक पुस्तक की कल्पना 'अन्टु दिस लास्ट' ने उनके दिमाग में यह कल्पना पैदा किया कि 'इण्डियन ओपीनियन' में जो थोड़े से आदमी काम कर रहे थे उनको लेकर एक छोटी-सी नयी बस्ती का प्रारम्भ किया जाय। इसके लिए देहात में कुछ जमीन खरीद ली जाय। वहाँ कुछ मकानात बनाकर छापाखाना वहीं ले जावें। सब गरीबी का व्रत ले लें और 'इण्डियन ओपीनियन' तथा भारतीयों को शिक्षित करने का काम हाथ में ले लें। जमीन की खेती शुरू करें और छापखाने से बहुत कम—निर्वाह-मात्र लें। श्री गांधी ने सोचा कि इस प्रकार वे शहरी जीवन के प्रलोभनों से अपने-आपको मुक्त कर सकेंगे और एक ऐसी बस्ती का निर्माण कर सकेंगे, जो सादगी का नमूना और दूसरों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन सकेगी।

श्री गांधी में आश्चर्यजनक उत्साह है। वह लेखक भी हैं। उन्होंने इसे श्री छगनलाल के सामने एक व्यावहारिक प्रस्ताव के रूप में पेश किया, तो वे तुरन्त सहमत हो गये। उन्होंने अपने दूसरे भाइयों के सामने भी इसे रखा, जो दूकानें चला रहे थे। इन लोगों को भी यह पसन्द आ गया और वे अपनी दूकानें समेटकर इस पर अमल करने के लिए तैयार हो गये। डरबन में श्री गांधी के एक अंग्रेज मित्र थे श्री ए. एच. वेस्ट, जो छापाखाने की देखभाल करते थे। बाद में वे श्री छगनलाल के साथ इसी छापाखाने का प्रबन्ध करने आ गये थे। डरबन लौटने पर श्री गांधी ने यह बात श्री वेस्ट के सामने भी रखी। श्री वेस्ट को भी यह कल्पना पसन्द आ गयी। नतीजा यह हुआ कि एक दिन के अन्दर श्री गांधी ने फिनिक्स में अपने नाम से इस काम के लिए एक जमीन खरीद ली। एक महीने में पारसी रुस्तमजी की मदद से वहाँ एक भाई का मकान खड़ा हो गया और पत्र भी अंक का नागा किये बिना सारा प्रेस वहाँ ले जाया गया।

तब से यहाँ इसके आसपास एक छोटी-सी बस्ती बस गयी है। मकानात खड़े हो गये, जमीन पर खेती होने लग गयी, एक आश्रम शुरू हो गया और सीधा-सादा जीवन कितना अच्छा होता है, यह पूरी तरह से लोगों की समझ में प्रत्यक्ष रूप से आ गया। यह ग्राम डरबन से कोई दो घण्टे के फासले पर घाट के एक सुन्दर मैदान के छोर पर पहाड़ी टीलों पर बसा है। बीच-बीच में पेड़ और हरे-भरे बगीचे लगे हैं, जिनके कारण प्रदेश बड़ा रमणीय हो गया है। श्री गांधी यहीं रहते हैं। जोहान्सबर्ग में अपने वकालत सम्बन्धी काम से थककर जब वे यहाँ लौटते हैं और दूसरों के साथ शरीर श्रम में लग जाते हैं, तब उन्हें बड़ा आराम मालूम होता है।

फिनिक्स के निवासी दो वर्गों में बँटे हुए हैं। एक तो इस योजनावाले और दूसरे वेतन पर काम करनेवाले। योजनावाले लोग वे हैं, जिन्हें इस योजना में अत्यन्त रुचि है। ऐसे प्रत्येक परिवार को यहाँ मकान सहित एक-एक एकड़ जमीन दे दी गयी है। इसकी कीमत वे अपनी सुविधा से चुका देंगे। इसके अतिरिक्त उन्हें 'इण्डियन ओपीनियन' से मासिक तीन पौंड दे दिये जाते हैं। यदि पत्र को लाभ होगा तो उसमें उनका भी हिस्सा होगा। दूसरों को उनके काम का पारिश्रमिक दे दिया जाता है।

यहाँ तक तो ये सपने साकार हो गये हैं किन्तु उन्होंने स्वप्नद्रष्टा को एकदम गरीब बना दिया है। 'इण्डियन ओपीनियन' से जो घाटा है वह फिनिक्स से बैठता है। किन्तु इसकी पूर्ति करना वे अपना काम समझते हैं और दरिद्रता को बढ़ानेवाले इस त्याग में वह अपने आदर्श के प्रति पूरी तरह से सच्चे हैं।

• • •

असामी सरकार ने एशियाटिक लॉ अमेंन्डमेंट आर्डिनेन्स (एशियावासी संशोधित अध्यादेश कानून) मंजूर किया इससे ठीक पहले सन् १९०६ में जुलू लोगों ने बलवा कर दिया। तब श्री गांधी ने सुझाया कि जिस प्रकार बोअर युद्ध के समय घायलों को उठाने के लिए भारतीयों का एक दल बनाया गया था वैसा अब भी बनाया जाय। किन्तु इसमें कुछ कठिनाइयाँ खड़ी हो गयीं और बात रुक गयी।

अन्त में देश की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल देखकर श्री गांधी ने वहाँ से (जोहान्सबर्ग) अपना घर उठा दिया और अपनी पत्नी और बच्चों को नेटाल ले गये। किन्तु वहाँ पहुँचने पर उन्हें एकाएक यह जानकर कुछ आश्चर्य-सा हुआ कि दलवाला उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया है और उनके आदमी राह देख रहे हैं कि श्री गांधी आकर कमान सँभाल लें। दल में बीस स्वतन्त्र भारतीय थे। श्री गांधी को सार्जेन्ट मेजर का पद दिया गया था। उनके हाथ के नीचे तीन सार्जेन्ट और एक कारपोरल था।

जैसा कि उनका स्वभाव है श्री गांधी ने अपने-आपको इस काम में पूरी तरह से झोंक दिया। अगले एक महीने में लड़ाँ-जहाँ भी कुछ कुछ लगभग उन सभी जगहों पर वे और उनके साथी पहुँच गये। दल का काम था घायलों को अस्पतालों में पहुँचाना। किन्तु मुहीम के प्रारम्भ में उन [illegible] काम भी [illegible] न पड़े थे।

[illegible] अमोघक [illegible] मैदान थे। उन्होंने पूछा कि यदि दल को [illegible] भी [illegible] लगाया जाय तो उन्हें एतराज तो नहीं होगा? इस पर [illegible] भी बनेगा [illegible] काम का करने को

तैयार थे। इस छावनी की सफाई का काम भी उसे सौंप दिया गया। इसके अलावा जिन सैनिकों को कोड़े मारे जाते थे उनकी शुश्रूषा का काम भी उन्हें दिया गया।

कुछ पूछने पर भी इस काम के अनुभव श्री गांधी बताना नहीं चाहते। इस इनकारी से मुझे अनुमान होता है कि दयाभाव की दृष्टि से वे स्थितियों के लिए शोभाजनक नहीं होंगे। श्री गांधी एक धार्मिक आदमी हैं। युद्ध की कल्पनामात्र से उन्हें घृणा है। अतः इस लड़ाई से इतना निकट का सम्बन्ध होना उन्हें असह्य सा हो गया था। कभी-कभी तो उन्हें यह भी लगा कि वे कहीं गलती तो नहीं कर रहे हैं। किन्तु उनके आदमियों को छोड़कर दूसरा कोई इस काम को करने के लिए तैयार नहीं था और घायलों के प्रति केवल दयाभाव ही उन्हें मजबूर कर रहा था कि वे इस काम को न छोड़ें। इनके सिपुर्द जो घायल किये जाते थे, अनेक बार उनकी हालत बड़ी भयंकर होती थी। घाव गन्दे और मव पड मे केवल अटके होते। डा. टैबेल की सब प्रशंसा करते थे। ऐसे आदमियों के प्रति वे निरपवाद रूप से दया का ही व्यवहार करते थे। किन्तु यूरोपियनों में केवल वे ही एक ऐसे अपवादस्वरूप पुरुष थे। इस कारण इन भारतीयों को प्रतिदिन बहुत कठिन मेहनत करनी पड़ती। पर चीना इन्टर से बड़े-बड़े मार्गों पर पट्टी बाँधना और घायलों को उठा-उठाकर फौज के पीछे एक-एक बार में बीस-बीस पचीस-पचीस मील ले जाना और छावनी की सफाई भी करना यह सब अत्यन्त कठिन काम था।

पूरे महीनेभर इस प्रकार यह अत्यन्त परिश्रम और कष्टपूर्ण काम इन्हें करना पड़ा। भारतीयों के लिए यह आसान नहीं था। ये लोग अत्यन्त भावनाशील और सुसंस्कृत कौम के हैं। उनकी सभ्यता अति प्राचीन रही है। उससे इनके चरित्रों को पोषण मिला है। इनके पूर्वजों ने संसार को ऊँचे-से-ऊँचा साहित्य और विचार दिये हैं। ऐसे लोगों द्वारा अत्यन्त पतित अवस्था में पड़े लोगों की स्वेच्छापूर्वक सेवा करना मामूली बात नहीं है।

किन्तु दक्षिण अफ्रीका में इस बात को बहुत कम लोग समझ सके। भारतीय रंगीन जाति के हैं अतः उन्हें यहाँ के देशी आदमियों के ही मान लिया जाता है। ट्रामगाड़ी में उन्हें कुर्सी में नहीं बैठने देना और रेलों में उनके बैठने के लिए अलग डिब्बे होते हैं। हमारी जेलों में इनके कपड़ों पर लिख दिया जाता है 'देशी' ताकि उनके साथ (अफ्रीकी) आदमियों के समान ही व्यवहार हो। इस प्रकार का कपड़ा रहना प्रायः हर बात में इनके साथ देशी अफ्रीकियों जैसा व किया जाता है।

जेल में जो खाना हमें दिया जाता है वह एकदम इनके अयोग्य स्वास्थ्य के संबंध में उन्हें सबसे अधिक कष्ट देनेवाली चीजों में से एक भी है। देशी आदमियों का उनका अपना खाना भिन्न जाता है। वह है मक्का की राबड़ी और एक औंस चरबी में पकाया हुआ मक्का दलिया। यह कोई अच्छा खाना नहीं है किन्तु यहाँ के देशी लोगों का भोजन यही है। जब जेलों में सत्याग्रहियों का ताँता शुरू हुआ और जे भारतीय वहाँ पहुँच गये, तब उन्हें भी यही खाना दिया गया। हाँ जेलों में चरबी के बदले घी और दलिया के बदले चावल दिये जाने का इतना फर्क जरूर कर दिया गया। गोरे का दाँचा ही तो है। उसमें कि है कि उनकी देशी आदमी समझा जाय और चूँकि उन्हें देशी मान गया इसलिए उन्हें देशी अफ्रीकनों के भोजन में भी सन्तोष मान चाहिए। ऐसे खाने की उन्हें कभी आदत नहीं थी। इससे उन्हें और तकलीफ हुई। लोग बीमार तक पड़ गये। प्रयत्न करने पर भी उनके खाने में बदल नहीं करवा सके। कम मीयादवाले कैदियों को इससे बड़ी तकलीफ हुई। थोड़ी-सी भी रोटी दे दी जाती तो उन्हें कुछ राहत हो जा

प्रिटोरिया और कुछ दूसरे जेलों में अफ्रीकनों के साथ उनका बर्ताव और भी असह्य हो गया। नियमों में लिखा था कि मक्का या घी चरबी में पकाकर दिया जाय, इसलिए यह व्यवस्था इसी तरह प

कर दिया जाता। किन्तु यह भारतीयों के लिए धर्म से निषिद्ध था। इसलिए इसके कारण कष्ट और भी बढ़ गया। भारतीयों में दो धर्म हैं, हिन्दू और मुसलमान। बहुत-से हिन्दुओं के लिए मांस वगैरह खाना धर्म से मना है और मुसलमान मांस खा तो सकते हैं, पर वह हलाल का मांस हो, तब। इसलिए जेल में जो चरबी दी जाती थी, वह दोनों के लिए धर्म से मना थी। चूँकि दलिया इसी चरबी में पकाया जाता था इसलिए उन्हें केवल चावल पर ही गुजर करनी पड़ती। चावल दिन में केवल एक बार—दोपहर में—दिया जाता था। इसलिए प्रायः खाना खाने के बजाय उन्हें भूखा ही रहना पड़ता। जेल का यह भोजन ऐसा जिनके हाथ में था उनसे विनती की गयी कि वे चरबी के बजाय घी दिया करें। जैसा कि जेलखानों में होता है, इसका कोई नतीजा नहीं हुआ। जेलों के अध्यक्ष से भेंट में कहा गया, अर्जियाँ दी गयीं अखबारों में लेख छपे तब जाकर कुछ परिणाम हुआ। परिणाम यह हुआ कि केवल चरबी बन्द हो गयी। उसके बदले में घी तो दिया ही नहीं गया। आज यही स्थिति है।

सभ्यता और संस्कृति में एक आफ्रिकी और भारतीय के बीच जो भेद है, उसे यहाँ कोई समझ ही नहीं रहा है। एक साधारण उपनिवेशवासी की नजरों में दोनों समान हैं।

इस लड़ाई में जुलुओं को बड़ी बेरहमी से पीसा गया है। एक भारतीय मध्यमवर्गी के पुत्र के नेतृत्व में यह दल इन कामों को अत्यंत सावधानी के साथ सेवा करता रहा। एक कुशल चित्रकार के लिए यह एक सुन्दर चित्र हो सकता है। खैर, किसी दिन तो लोग इसकी कद्र करेंगे ही। ● ● ●

इस बीच ट्रान्सवाल की अस्थायी सरकार द्वारा बनाया गया एशियाई विधेयक संसद् द्वारा मंजूर होकर बादशाह की मंजूरी के लिए इंग्लैण्ड भेज दिया गया था। जुलू विद्रोह से ज्योंही श्री गांधी जोहान्सबर्ग लौटे, भारतीय कौम ने सोचा कि एक शिष्ट-मण्डल इंग्लैण्ड जाय और कोशिश करे कि इस विधेयक को बादशाह अपनी मंजूरी न दें। इस काम के लिए श्री गांधी और श्री अली को चुना गया। एक हद तक यह शिष्ट-मण्डल सफल भी रहा। इंग्लैण्ड की जनता ने भारतीय प्रतिनिधियों का प्रेमपूर्वक स्वागत किया। ये दोनों प्रतिनिधि उपनिवेश-सचिव से तथा मंत्रियों से भी मिले। इनके प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि जब तक ट्रान्सवाल विधिवत् अपनी सरकार नहीं बना लेता तब तक के लिए मंजूरी रुक गयी। पर भी इससे अधिक की आशा नहीं थी। शिष्ट मण्डल की इस यात्रा में एक और काम हो गया। इंग्लैण्ड में एक कमेटी बना दी गयी, जो भारतीयों के हितों की देखभाल करती रहे तथा मौका पड़ने पर संसद् (पार्लमेण्ट) पर असर भी डालती रहे।

शिष्ट मण्डल को सौभाग्य से श्री एल॰ डब्लू॰ रिच की सेवायें कमेटी के मन्त्री के रूप में मिल गयीं। लार्ड एम्पथिल ने सभापति पद स्वीकार कर लिया और कार्यसमिति के अध्यक्ष का पद सर मंचरजी भावनगरी ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार यह कमेटी प्रभाव और संगठन की दृष्टि से काफी जोरदार बन गयी और बाद की घटनाओं ने इस कथन को सही सिद्ध कर दिया।

किन्तु गांधी जी की इंग्लैण्ड-यात्रा से आज का संकट केवल कल पर टला था। ज्योंही अस्थायी सरकार के स्थान पर सरकार ने अपना काम शुरू

लिए, वैधानिक संसद् की एक ही बैठक में वह कानून मंजूर हो गया जिसने एशियाई लोगों को इतना परेशान कर रखा था और फिर बादशाह की मंजूरी के लिए पेश कर दिया गया।

यह विधेयक इतनी जल्दबाजी के साथ मंजूर किया गया कि उसकी धाराओं पर बहस तक नहीं की गयी। स्वयं उपनिवेश-सचिव भी नहीं समझता था कि इन धाराओं में क्या लिखा है। एक दिन में तीनों वाचन हो गये और बादशाह की मंजूरी मिलने में भी देर नहीं लगी।

सत्याग्रह या निष्क्रिय प्रतीकार के नाम से जो चीज मशहूर है, उसने अब असली रूप धारण किया। यह १९०७ का जुलाई का महीना था। ट्रान्सवाल में लगभग एक हजार चीनी भी रहते हैं। इस लड़ाई में ये भी शरीक हो गये। अधिकांश चीनी ब्रिटिश प्रजाजन नहीं थे किन्तु चूँकि वे एशियाई थे इसलिए कानून का असर उन पर भी होता था। इनके नेता श्री क्विंग लिवन ने इनको बहुत अच्छी तरह संगठित कर लिया था और इस महान् लड़ाई में वे अन्त तक दृढ़ रहे।

लड़ाई के इन निरन्तर चिन्तापूर्ण दिनों में नेता—श्री गांधी के दाहिने हाथ सदा श्री एच॰ एस॰ एल॰ पोलक रहे हैं। यह एक अत्यन्त बुद्धिमान् अंग्रेज हैं जो गांधी की ही भाँति ट्रान्सवाल के सर्वोच्च न्यायालय के वकील हैं। गांधी इतने दिन जब जेल में रहे तो लड़ाई का सारा भार श्री पोलक ने संभाला है—और बड़े साहस और धैर्य के साथ संभाला है। भारतीयों ने इन्हें ट्रान्सवाल के ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन का सहायक मन्त्री चुन लिया है। इस अजीब पेशे की तमाम गुत्थियों और कठिनाइयों से परिचित होने के कारण सताये गये सत्याग्रहियों को इनसे बड़ी अनमोल मदद मिली है। अदालतों में ये उनके वकील हैं दफ्तर में लगातार रात दिन इस तरह समस्त दक्षिण अफ्रीका के ब्रिटिश भारतीयों के हित में इन्होंने अपने-आपको पूरी तरह लगा दिया है। इनके लिए [illegible] हैं मालूम देते हैं। आश्चर्यजनक है इनकी लगन और सत्याग्रह। सभी

महापुरुषों की भाँति इस तरह के लोगों को मालूम करके उन्हें अपना बना लेने और उनकी भक्ति का भाजन बन जाने का जादू-भरा गुण भी गांधी में है।

किन्तु इस लम्बे प्रतीकार का भारतीय कौम पर बड़ा हानिकर असर पड़ा है। बहुत से आदमी तो लगभग बरबाद हो गये हैं। फिर भी उनमें अद्भुत धीरज, निश्चय की दृढ़ता और आत्मसंयम है, जिनके कारण वे सबके आदर के पात्र बन गये हैं। खान-मजूरी और फल बेचनेवालों और फेरीवालों में भी इस लड़ाई का वही जोश और बलिदान की भावना घुस गयी है जो दूसरे धनवान् लोगों में है। इनके झुण्ड के झुण्ड हँसते हुए जेलों में गये हैं। वहाँ उन्हें गन्दी कोठरियों में रखा जाता है और गन्दा काम उनसे कराया जाता है। किन्तु हम न्याय के लिए लड़ रहे हैं इस एक बात के भान का उनके चेहरे पर एक अजीब तेज छाया रहता है।

इसे देखकर शायद कोई सोचे कि जेलों की सजा पर इसका अच्छा असर नहीं पड़ेगा। लेकिन इसका कोई उपाय नहीं। जिन लोगों को स्वयं जनरल स्मट्स ने 'अंतरात्मा की आवाज पर लड़नेवाले' कहा है उनके लिए हमारे राज चलानेवाले प्रस्तुत विवाद में इस संस्था का जब उपयोग कर रहे हैं, तो इसका दूसरा और क्या परिणाम हो सकता है! ऐसे कार्य के लिए उनकी बार-बार की कैद ने इस सजा के साथ जुड़ी हुई अपराध और लज्जा की कल्पना को मिटा दिया है और वे अपने माल और जायदाद को लुटते देखकर खुश हो रहे हैं।

किन्तु इस सारे प्रकरण में इनके महान् नेता का व्यक्तित्व सबसे बड़ी शक्ति का काम कर रहा है इसमें किसीको सन्देह नहीं है। उन्हें जेल की सजा पाते हुए देख लेना सारी कौम में बड़े-से-बड़े त्याग और बलिदान की भावना जगाने के लिए काफी है और वे स्वयं गिरफ्तार होने के लिए पुलिस को परेशान कर रहे हैं। इसी तरह जब वे गैरहाजिर होते हैं, तब

में उनका प्रभाव आश्चर्यजनक काम करता रहता है। उनके एक-एक शब्द, इच्छा और संकेतमात्र पर बहुत-से लोगों का जीवन निर्भर है।

"अब तुम क्या करोगे?" उस दिन मैंने अपने सब्जीवाले से पूछा। अपने माथे कन्धे कुछ ऊँचे किये, सामने बाँहें फैलायीं, अपने स्वच्छ दाँत दिखाते हुए कुछ मुस्कराया और बोला :

'यह तो गांधी जानें। यदि वे कहेंगे कि जेल में जाओ तो हम चले जायेंगे।'

मुझे विश्वास है कि यदि श्री गांधी कहें कि मर जाओ तो हँसते-हँसते मरनेवालों की भी कमी नहीं रहेगी।

हाँ कुछ लोग आज भी अछूते हैं। वे बड़े लोगों के साथ उनका विरोध करते हैं। किन्तु बहुत से लोगों के लिए तो जैसा कि एक सज्जन ने एक दिन बड़े गर्वभाव से कहा था "हमारे सच्चे कर्मयोगी हैं।"

अब समस्या केवल दो मुद्दों पर अटकी हुई है और उपनिवेशवालों तथा एशियाइ लोगों दोनों के लिए वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो सारे झगड़े की जड़ एशियाटिक संशोधित कानून का रद किया जाना। इस बात की माँग वे लोग शुरू से करते आये हैं। यह समझौते की एक शर्त—यद्यपि अलिखित—रही है और उन्होंने समझ लिया था कि सरकार ने उसे मान लिया है और इस कारण इसका कानून की किताब में बना रहना हमेशा के लिए झगड़े का एक कारण बन गया है। यह सम्भव नहीं कि यह बना रहे और उस पर अमल न हो। आज भी उस पर अमल हो रहा है, यद्यपि नया कानून बन गया है, जिसके द्वारा वह बेकार हो गया माना जाता है। यही नहीं अधिकारी मानते हैं कि वह बेकार है। इस लड़ाई का एक उद्देश्य इस कानून को रद करवाना है।

दूसरा मुद्दा है पढ़े-लिखे भारतीयों के दर्जे का। श्री गांधी और उनके देशभाइयों ने कभी इस देश को एशियाइयों से भर देने का यत्न नहीं किया है। स्वभावतः वे यह तो चाहते हैं कि उपनिवेश के द्वार खुले रहें।

किन्तु हम देश की परिस्थिति और उपनिवेशवासियों के मिज़ाज से वे पूरी तरह परिचित हैं। अतः वे इस बात को भी जानते-समझते हैं कि नये प्रवेशों पर कड़ा नियन्त्रण लगा देना जरूरी है। किन्तु इसमें उनकी एक मांग यह है कि यदि ऐसे नियन्त्रण लगा दिये जायें, तो अपनी निजी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार विकास करने की अनुकूलता और उनके अपने स्वाभाविक शिक्षक मिलने चाहिए। इस समय प्रवेशार्थियों की संख्या को सीमित रखने के सम्बन्ध में जो कानून लागू हैं, उनमें कुछ शैक्षणिक कसौटियां रखी गयी हैं। जो इनमें पार हो जाते हैं उन्हें प्रवेश मिलता है। लेकिन इन कसौटियों को ढीली या सख्त करना प्रवेश अधिकारी की इच्छा पर निर्भर रखा गया है। एशियाइयों का दावा है कि इस कानून में वे भी आ जाते हैं किन्तु सरकार यह मानने से इनकार करती है। वह तो चाहती है कि एशियाइयों का प्रवेश पूरी तरह बन्द कर दिया जाय। हां जो पहले से आ गये हैं वे भले ही पड़े रहें। इस हालत में एशियाइयों ने अपनी ही तरफ से एक प्रस्ताव यह रखा कि प्रतिवर्ष अधिक-से-अधिक छह सुशिक्षित आदमियों को प्रवेश दिया जाय। उपनिवेश मन्त्री इनके लिए कोई भी शिक्षासम्बन्धी शर्तें लगा दें। जो भी शिक्षित भारतीय यहाँ आना चाहें, उन पर यह शर्त लगा दी जाय। यदि उसमें वे योग्य पाये जायें तो उन्हें प्रवेश दिया जाय नहीं तो नहीं। मतलब यह कि अगर भारतीयों के लिए उपनिवेश के द्वार बन्द करना है, तो वह रंग या जाति के नाम पर न हो यही वे चाहते हैं।

भारतीयों की ये मांगें बहुत छोटी बुद्धियुक्त और उचित हैं। अगर उन्हें राष्ट्र मण्डल के सुयोग्य सदस्य बनाना है, तो उन्हें अपनी उन्नति करने का अवसर भी मिलना जरूरी है। निश्चय ही उन्हें यह हक है कि वे अपने डाक्टर वकील और धर्मोपदेशक लायें। अब तो दूसरे सभी समाज यह मानने हैं कि वे अपने अपने देश से पढ़े-लिखे लोगों को यहाँ लायें। इस समय इन उपनिवेशों में जितने भी धर्मों के माननेवाले हैं, उनमें से

विरोधियों भी अपने वर्तमान पुरोहित-वर्ग की संस्था से सन्तोष नहीं है। वह एमिग्रान्टों का कैसे हो सकता है।

सरकार ने अपने नये कानून में इतना स्वीकार कर लिया है कि इस संस्था की पूर्ति के लिए यह कुछ लोगों के लिए अस्थायी परवाने दे दिया करेगी। किन्तु कोई भी साधारण बुद्धिमान् आदमी यह कह सकता है कि इससे से कदापि काम नहीं चल सकता। क्योंकि जब भी अधिकारी चाहें ऐसा परवाना तो किसी भी क्षण रद्द किया जा सकता है और कोई स्वाभिमानी आदमी इस प्रकार यहाँ आना स्वीकार नहीं कर सकता। इस लिए पादरी समाज इस शर्त पर समझौता करने को तैयार नहीं है। वे चाहते हैं कि शिक्षा की शर्त पर उन आदमियों को प्रवेश दिया जा सका। यह प्रश्न किया जाय मेहरबानी के रूप में नहीं अधिकार के रूप में। इस प्रकार अभी तक तो इन साधारण माँगों को मानने से सरकार इनकार कर रही है। यद्यपि इन आपत्तिजनक कानूनों के अमल में उसने अपने आपको एकदम अयोग्य साबित कर दिया है। बड़े-बड़े जज, मजिस्ट्रेट और पुलिस के अधिकारी हैरान हैं क्योंकि इन उच्छृंखलभरे कानूनों का अर्थ साफ भी उनकी समझ में नहीं आ रहा है। सर्वोच्च न्यायालय को भी सरकार के विरुद्ध अपना फैसला सुनाना पड़ा है।

किन्तु इस पर से यह नतीजा निकालना गलत होगा कि इन अन्याय-पूर्ण और दुर्भाग्यपूर्ण कार्यों के कारण भारतीय तंग आ गये हैं इसलिए वे सरकार को ही बदलना चाहते हैं। यह कोई राजनैतिक आन्दोलन नहीं है। सरकार बदलने से उन्हें कोई राहत नहीं मिल जायगी। जनरल बोथा एक सज्जन और न्यायप्रिय पुरुष हैं और उनके मंत्रिमण्डल के सदस्य भी कुल मिलाकर किसी भी देश की सरकार के साथ तुलना में बुरे नहीं साबित होंगे। नैतिक प्रश्नों में उनका विवेक जाग्रत पाया जायगा और बहुत से मामलों में विवेक तथा धर्म का भी वे बराबर खयाल रखते पाये जाते हैं। केवल यही एक प्रश्न ऐसा है जिसमें अनुभव और लोकमत के सामने

उनके विवेक और श्रम को टालना पड़ता है। जहाँ तक माइग्रेशन पार्टी (अप्रवासी दल) से सम्बन्ध है उसने इस विषय में ढेर सारा ही गड़बड़ कर दिया है। सरकार चाहने से न तो यह प्रश्न हल हो सकता है, न किसीको राहत ही मिल सकती है।

इस सारी परेशानी के कारण दो हैं—एक तो उपनिवेश-मंत्रियों का रंगभेद और परिवार विभाग की अयोग्यता। पहली चीज को एकदम नहीं दूर किया जा सकता। उसकी दवा समय है। किन्तु दूसरी चीज ऐसी है जिसे अविलम्ब दूर कर दिया जाना चाहिए। दूसरी बातों में ये अधिकारी चाहे कितने ही योग्य हों, भारतीयों के साथ व्यवहार करने में ये अयोग्य हैं। ये उन्हें समझ ही नहीं पा रहे हैं। भारतीयों से ये कुली की तरह ही बरतते हैं। यदि दिये हुए वचनों का पूरा-पूरा पालन होता और परिवार विभाग के संचालक इन लोगों के धार्मिक विश्वासों को शिष्टतापूर्वक मान्यता देते, तो आज जो समस्या इतनी उलझ गयी है वह शायद पैदा ही नहीं होती।

न्याय और सज्जनता से काम किया जाय, तो यह परिवार प्रश्न बहुत कुछ सुलझ जाय। ●●●

किन्तु परोक्ष भाषा में यों पेश किया। उन्होंने कहा कि "मैं गांधी को एक मज्जन सुसस्कृत विवेकशील और पूरी तरह से शिक्षित पुरुष मानते हैं। जो रुख उन्होंने धारण किया है, उसे वे (गांधी) सच्चे दिल से मानते हैं। फिर भी वे मानते हैं कि श्री गांधी गलती पर हैं। सच तो यह है कि यह अब आत्मरक्षा का प्रश्न बन गया है। मान लीजिये कि यदि सरकार की भूख ने एक सौ वर्ष में साम्राज्य का नाश कर दिया तो यह अत्यंत दुःख की बात होगी। जब कोई कौम अपने से कमजोर लोगों को पीसना चाहती है, तो निश्चय ही उसका पतन होगा। रोमन साम्राज्य का यही हाल हुआ था। किन्तु इस देश में हमें केवल अपनी ही बात का विचार नहीं करना है। यहाँ तो हमारी और हमारे बच्चों की रोटी-रोटी के प्रश्न का विचार करना पड़ता है। यहाँ के शासक अधिकांश लोगों का यही विचार है।

एक और भी बात है। इस उपनिवेश को पाने और उसकी रक्षा के लिए गोरों ने खून बहाया है पैसा भी बहाया है और यहाँ अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए भी उन्हें यह करना पड़ रहा है। इस समय वे अपने महान् साम्राज्य की नींव डालने में लगे हैं। और जहाँ तक इन उपनिवेशों का सम्बन्ध है, वे इस इमारत में एक भी गलत ईंट नहीं रखना चाहते। जो भारतीय यहाँ बस गये हैं उन्हें वे निकालना नहीं चाहते। किन्तु वे समझते हैं कि बुद्धिमानी इसमें है कि उनके परिश्रम का फल पूरब के लोग न उठाने पायें इसका पूरा प्रबन्ध वे कर दें। ये हैं वे विचार, जो हममें से अधिकांश लोगों को प्रभावित कर रहे हैं।

इन विचारों में जो कुछ सार है, उसे श्री गांधी पूरी तरह स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यहाँ बसे हुए—भारतीयों और गोरे उपनिवेशवासियों के विचार इस बात में लगभग एक-से हैं। गोरों की भाँति वे भी नहीं चाहते कि उपनिवेशों के द्वार एकदम खोलकर रख दिये जायें और पूर्व के लोग बिना किसी रोक-टोक के यहाँ आते रहें। पूर्व के लोग शक्ति

अफ्रीका को भारतीयों से भर देने की ताक में नहीं बैठे हैं। यहाँ जो भारतीय बस गये हैं, उनकी भी यह इच्छा नहीं है। यहाँ तक तो दोनों के विचार एक से हैं।

एक बात और है, जिसमें दोनों पक्षों के विचार एक-से हैं। वह यह कि जिन एशियावासियों को यहाँ रहने का अधिकार है उन्हें यहाँ रहने दिया जाय। हाँ गोरों में ऐसे गैरजिम्मेदार और अविचारी लोग भी जरूर हैं, जो सब एशियावासियों को भगा देना चाहते हैं। किन्तु ऐसों की संख्या अधिक नहीं है। अधिकांश लोग तो यही कहते हैं कि 'हम उन लोगों को भगाना नहीं चाहते जिनके यहाँ हित—स्वार्थ—हैं और जिन्हें यहाँ रहने का अधिकार भी है। हम तो केवल नये लोगों के प्रवेश को रोकना चाहते हैं। यहाँ तक दोनों एकमत हैं।

अब आगे श्री गांधी का कहना यह है कि जिन एशियावासियों को यहाँ रहने का अधिकार है वे जब यहाँ रहनेवाले हैं और नये प्रवेश पर कठोर पाबन्दियें भी लगायी जा रही हैं तो न्याय और राजनैतिक दृष्टि से समझदारी की बात यह होगी कि इनके लिए ऐसे साधनों की भी अनुकूलता कर दी जाय, जिससे वे नागरिक अपने-आपको ऊपर उठा सकें और दक्षिण अफ्रीका के लिए वे लाभदायक सिद्ध हो सकें। उनका आग्रह है कि "हमें कुछ अच्छे-से-अच्छे आदमी यहाँ आने की इजाजत दीजिये, जो हमें कुछ सिखा सकें और हमारी सँभाल भी कर सकें। जो अपने साथ स्वदेश से ऊँचे से ऊँचे आदर्श लाकर हमारी आध्यात्मिक जरूरतों को पूरी कर सकें, ताकि हम गिरकर यहाँ के आदिवासियों की स्थिति को न पहुँच जायें। बल्कि ऊपर उठकर हर प्रकार से साम्राज्य के योग्य नागरिक बन जायें। म्युनिसिपैलिटी (नगरपालिका) के अधिकारी हमारे पास आवें और सफाई के नियमों का हमसे कड़ाई से पालन करावें अच्छे मकान बनवा दें और ऊपर उठने की प्रक्रिया में हमारी मदद करें। ताकि यूरोपियनों और भारतीयों के बीच आज की-सी कोई विघ्न रोक न रहने पाये। और

इस कल्पना को बढ़ावा न दें कि आपके सभी भारतीय नागरिक तो कुत्ते हैं। यदि आप अपने विचार नहीं सुधारेंगे और यही विचार बार-बार प्रकट करते रहेंगे और उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करते रहेंगे, तो तत्काल और मजबूरन उनका जीवन कुत्तों का-सा ही हो जायगा। भारतीयों को ऊपर उठने के लिए कुछ प्रोत्साहन दीजिये, अपने लिए उन्हें जमीन का कोई टुकड़ा खरीदने दीजिये, ताकि उस पर वे एक अपना-सा मकान बना सकें। सार्वजनिक हित के महत्त्वपूर्ण और महान् प्रश्नों के निर्णयों में भी उन्हें अपनी राय देने का अधिकार दीजिये, ताकि देश के हित में उन्हें विचार करने का अवसर मिले। यदि आप उनके साथ मनुष्यता का व्यवहार करें, उन्हें भी नागरिक समझेंगे तो वे भी जरूर ही इस लायक बन जायेंगे।" इस प्रकार लोकतन्त्रवादी, विचारशील और न्यायी उपनिवेशवासियों से भी गांधी अनुरोध करते हैं और हम आशा करते हैं कि दक्षिण अफ्रीका के अधिकतर ये ही लोग होंगे। वे भी स्वीकार करते हैं कि श्री गांधी न्याय की बात करते हैं। फिर भी आज इस प्रकार के लोग अल्प संख्या में हैं। और अगर उनकी संख्या अधिक हो तो भी उनकी कुछ चल नहीं रही है। जो लोग समझते हैं कि भारतीयों के साथ किसी प्रकार भी रियायत करना ठीक नहीं है, ऐसे लोग उन लोगों को दबा देते हैं और उनकी जबान बन्द कर देते हैं।

इन उपनिवेशों में हमारी दृष्टि बड़ी संकीर्ण हो गयी है। हमारे अपने इस सीमित क्षेत्र और उसमें हमें जो छोटी-बड़ी कठिनाइयाँ हो रही हैं उनसे बाहर हम देख ही नहीं रहे हैं। हमारे दिल छोटे हो गये हैं। साम्राज्य के व्यापक हितों और उन बड़े-बड़े सवालों के बारे में हम कुछ सोच ही नहीं पाते जिनकी जड़ें भारत में हैं। इस समय इस देश में किसी ऐसे राजपुरुष की जरूरत है, जिसकी दृष्टि विशाल और अनुभव व्यापक हो, जो दूर की चीजों को देखकर हमें भी अपने देश की सीमाओं से बाहर देखने की शक्ति दे सकता हो और अपनी तुच्छताओं पर विजय

पर इमारत के साथ बगूल बनाना सिखा सकता हो। नहीं, कुछ अधिक भी। अन्याय की बुनियाद पर अपने घर की इमारत खड़ी करना किसीके लिए हितकर नहीं है। यह चीज बुरी है। इसका नतीजा भी बहुत बुरा ही होगा। हमारे दिलों में चाहे कितना ही विरोध हो हमें यह तो पक्की गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि भलाई से ही घर ऊपर उठते हैं।

• • •

बुराई के प्रतीकार के एक उपाय के रूप में सत्याग्रह की कल्पना भारतीय जनमानस में पहले से ही है। पुराने जमाने में उसे 'धरना देकर बैठना' कहा जाता था। कभी-कभी संपूर्ण कौम-की-कौम अपने राजा के विरुद्ध इसका अवलंबन कर बैठती है। पोरबन्दर के इतिहास में इसके उदाहरण है। तब इसके सामने व्यापार-व्यवसाय ठप हो जाता और शक्ति लाचार!

बहुत वर्ष पहले बिशप हेबर ने अपने सामयिक पत्र में इसके बारे में लिखा था : 'धरना देना या शोक मनाकर बैठने के मानी यह हैं कि आदमी सर्दी गरमी बरसात धूप छाँह, किसीकी परवाह न करता हुआ उसी अवस्था में अन्न पानी छोड़कर निश्चेष्ट पड़ा रहता है, जब तक कि सामनेवाला इसकी विनती नहीं मान लेता। हिन्दुओं की मान्यता है कि यदि इस प्रकार धरना देते हुए आदमी मर जाता है, तो वह भूत-प्रेत बनकर अपने जिद्दी विरोधी के पीछे पड़ जाता है और उसे सदा सताया करता है।

बिशप ने इसका एक उदाहरण भी दिया है : 'बनारस की बात है। लोगों ने किसी प्रश्न को लेकर धरना देने का निश्चय कर लिया। इसके समाचार गाँवों में फैल गये। तीन दिन के बाद, सरकार को इस इरादे का पता भी नहीं लगा उससे पहले, तीन लाख मनुष्य अपने मकानों को छोड़ कर दूकानें बन्द करके शहर के बाहर आकर बैठ गये। खेतों और खलिहानों का काम बन्द हो गया खाना पीना छोड़ दिया गया, चूल्हों में आग तक नहीं जली और हाथ जोड़कर नीचा सिर करके लोग इस तरह बैठ गये मानो भेड़ें बैठी हों।

ट्रान्सवाल में भारतीयों ने जिस तत्परता के साथ सत्याग्रह को अपना लिया, इसका कारण शायद यही है कि इस चीज से ये लोग पहले से ही परिचित हैं। शायद इनके नेता पर ही अनजान में इसका असर रहा हो। किन्तु जहाँ तक स्वयं श्री गांधी से सम्बन्ध है यह बात उनके मन में कैसे पैदा हुई और विकसित होती गयी इसका कारण वे दूसरा ही बताते हैं।

उन्होंने कहा : "बचपन में बहुत छोटा था तब शाला में पढ़ी एक कविता की दो पंक्तियाँ मेरे मन में बैठ गयीं। उनका मतलब यह है कि

'यदि कोई आदमी आपको जल पिलाता है और बदले में आप भी उसे कुछ पीने के लिए दे देते हैं तो इसमें आपने कुछ नहीं किया। सच्चा सौन्दर्य तो बुराई के बदले में भलाई करने में है।'

बचपन में मेरे दिल पर इस कविता का बहुत भारी असर हुआ और तब से इस पर अमल करने का मैं बराबर यत्न करता रहा हूँ। इसके बाद मेरे पढ़ने में वह पर्वतीय प्रवचन (सरमन ऑन दि माउण्ट) आया।

मैंने कहा : "किन्तु भगवद्गीता तो आपने इससे भी पहले पढ़ ली होगी ?"

उन्होंने कहा : 'नहीं। यों मैं संस्कृत में भगवद्गीता काफी अच्छी तरह पढ़ चुका था। किन्तु मैंने तब तक उसका इस दृष्टि से अध्ययन नहीं किया था। वास्तव में सत्याग्रह की सचाई और महत्त्व का दर्शन मुझे सबसे पहले नये इकरार (न्यू टेस्टामेण्ट) से ही हुआ। जब मैंने 'सरमन ऑन दि माउण्ट' में पढ़ा कि 'बुरे का प्रतीकार मत करो बल्कि जो तुम्हारे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, उसके सामने बायाँ गाल भी कर दो। और 'अपने शत्रुओं पर भी प्रेम करो और जो तुमको सतायें उनके लिए भगवान् से प्रार्थना करो ताकि अपने स्वर्गस्थ पिता की तुम सच्ची सन्तान बन सको'—तो मैं आनन्द से नाच उठा। मेरे मन की बातों का समर्थन मुझे ऐसी जगह से मिल गया जहाँ से मैंने इसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। भगवद्गीता

ने इस प्रभाव को और भी गहरा कर दिया और टॉल्स्टॉय के 'ईश्वर का राज्य आपके अन्तःकरण में ही है' (दि किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू) पुस्तक ने उसे सदा के लिए पक्का कर दिया।"

निःसन्देह काउण्ट टॉल्स्टॉय का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। इस बूढ़े रूसी सुधारक के सीधे-सादे जीवन, निर्भीक प्रतिपादन और युद्ध तथा काम-काज के बारे में उनके जो विचार हैं उन्होंने श्री गांधी को उनका पक्का और श्रद्धालु शिष्य बना लिया है। मुझे तो ऐसा भी लगता है कि काउण्ट टॉल्स्टॉय ने ईसाई गिरजाघरों का जैसा विरोध किया है उसका भी उन पर काफी असर हुआ है। स्वयं उन्हें इन गिरजाघरों का जैसा अनुभव हुआ है, वह भी इतना अच्छा तो नहीं रहा जो उसे भुला सकें। रस्किन और थोरो ने भी उन्हें अपने विचार बनाने में मदद की है। रस्किन की 'क्राउन ऑफ वाइल्ड ओलिव' उनको बड़ी प्रिय है। इन सबके अतिरिक्त शिक्षा के प्रश्न को लेकर स्वयं इंग्लैण्ड में भी जो निष्क्रिय प्रतीकार की हलचल हुई थी उसका भी उन पर तथा उनके आदमियों पर बड़ा असर हुआ है। वह तो उनके लिए एक दिलचस्प और जोरदार पदार्थ-पाठ ही बन गया है।

कुछ महीने पहले सत्याग्रह की नैतिकता इस विषय पर 'इण्डियन ओपीनियन' ने दक्षिण अफ्रीका के लेखकों से लेख मांगे थे और उत्तम लेख पर एक इनाम देने की घोषणा की थी। निर्णायक मुझे बनाया गया था। इससे अधिक आश्चर्य मुझे यह देखकर हुआ कि सारे भारतीय लेखक इंग्लैण्ड के इस दिशा विषयक विवाद से पूरे परिचित थे। [illegible] कि [illegible] के नाम से जितना परिचित मैं हूँ उतना ही वे भी थे।

किन्तु उस [illegible] ने जो विचार बीज बोया उस पर से आप इतनी [illegible] कि श्री गांधी का आदर्श यह नहीं है कि बुराई [illegible] में बस निष्क्रिय रहें। यहाँ बुराई के बदले में प्रत्यक्ष [illegible] भी [illegible] कहते हैं कि "बुरे का प्रतिकार

टेंस' शब्द पसन्द नहीं है। इसमें मेरी बात पूरी तरह से नहीं आती। यह तो केवल तरीके का वर्णन करता है उस पद्धति के बारे में कुछ भी कथन नहीं करता, जिसका यह एक अंशमात्र है। असली खूबी तो यह है—और यही मेरा उद्देश्य भी है कि बुराई के बदले में भलाई की जाय। फिर भी मैं अभी इसी शब्द से काम चला रहा हूँ, क्योंकि यह प्रसिद्धि पा चुका है, लोग इसको जल्दी समझ जाते हैं और इसलिए भी कि मेरे अपने लोगों में से भी बहुत से आदमी अभी केवल इतनी ही चीज को ग्रहण कर सकते हैं। स्वयं मुझे तो ऐसा लगता है कि उस गुजराती कविता की मूलभूत कल्पना और 'सरमन ऑन दि माउण्ट' (पर्वतीय प्रवचन) ऐसी चीजें हैं जो सारे समाज में क्रान्ति ला सकती हैं।"

एक दिन मैंने उनसे पूछा : "आपने यह आन्दोलन अपने लोगों में पहले-पहल किस प्रकार शुरू किया ?"

'यह तो यों हुआ"—वे बोले—'कुछ वर्ष पहले जब नैटाल के सार्वजनिक जीवन में मैंने भाग लेना शुरू किया तब मुझे लगा कि यदि कार्यकर्ताओं में धन न हो तो वहाँ काम करने का सबसे अच्छा तरीका यही हो सकता है। किन्तु उस समय हमारा भारतीय समाज संगठित नहीं हो पाया था। इसलिए लगा कि यह प्रयत्न यहाँ सफल नहीं होगा। लेकिन यहाँ जोहान्स-बर्ग में जब एशियाटिक रजिस्ट्रेशन कानून का विधेयक पेश किया गया, तो सारे भारतीय समाज में एक जबरदस्त हलचल पैदा हो गयी और उसने निश्चय कर लिया कि इसका पूरी तरह विरोध किया जाय। तब मुझे लगा कि यहाँ इस उपाय के लिए सही उपयुक्त स्थान है। वे कोई कदम भी उठाना चाहते ही थे। इसलिए मुझे लगा कि सारे उपनिवेश के हित की दृष्टि से सही यह होगा कि यह कदम किसी प्रकार हिंसक स्वरूप का रूप न धारण कर ले। इसलिए यहाँ निष्क्रिय प्रतीकार से ही काम लिया जाय। संसद् में इन लोगों का कोई प्रतिनिधि नहीं है। अन्य प्रकार से राहत मिलने की भी कोई आशा नहीं है। इनकी शिकायतों की

तरफ कोई ध्यान देनेवाला भी नहीं है। ईसाई धर्मोपदेशक भी उदासीन हैं। तब मैंने कष्ट-सहन का यह मार्ग सुझाया और कुछ लम्बी चर्चा के बाद यह मंजूर भी हो गया। सन् १९०६ के सितम्बर में एक दिन एम्पायर थियेटर में हमारी एक बहुत बड़ी सभा हुई। उसमें सारी स्थिति पर साफ साफ तौर पर और पूरी तरह विचार किया गया। लोगों के दिलों में बड़ी गहरी चोट थी। उस समय हमारे समाज के एक अगुआ के सुझाने पर सबने गम्भीरतापूर्वक पैसिव रेजिस्टेन्स का अवलम्बन करने की शपथ ले ली।"

तब से बहुत से राजनीतिज्ञ इस आन्दोलन का बड़ा सख्त विरोध कर रहे हैं। इसका एक खास कारण भी है। वे समझते हैं कि इसके रूप में देशी लोगों के हाथों में एक शस्त्र आ जायगा। किन्तु श्री गांधी ने इसका अनेक बार जवाब भी दे दिया है। उनकी दलीलें ये हैं :

(१) यदि यहाँ के देशी लोग किसी समय अनुभव करें कि उनके साथ वस्तुतः अन्याय हो रहा है और उसे हटाने के लिए वे इसका अवलम्बन करें तो हमें उनका हृदय से और श्रद्धापूर्वक आभार मानना चाहिए। हम भगवान् को धन्यवाद दें कि भालों और मारकाट की जगह अब वे शान्ति के उपाय ले रहे हैं। जो लोग दूर भी देख सकते हैं, वे जानते हैं कि भविष्य में देशी लोगों से सम्बद्ध समस्याएँ अवश्य ही कष्ट का कारण बनेंगी। तब दक्षिण अफ्रीका में अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए गोरों को बहुत बड़े संघर्ष का मुकाबला करना होगा। इसलिए जब सचमुच यह अवसर आ जायेगा तब यदि वे लोग मार-काट, लूट-खसोट, खून और आगजनी से काम लेने के बजाय निष्क्रिय प्रतीकार से काम लेने लगेंगे तो समझना चाहिए कि इस उपनिवेश के लिए यह एक शुभ दिन होगा।

(२) सत्याग्रह अथवा पैसिव रेजिस्टेन्स की विजय वहीं होती है, जहाँ उसके पक्ष में न्याय होता है। दूसरे को पीड़ा पहुँचाने के बजाय

दूर तकलीफ उठाना बहुत कठिन है। इसके लिए बहुत भारी नैतिक बल की जरूरत होती है। अन्याय के लिए कोई कौम इतनी तकलीफ कभी नहीं उठा सकती। फिर अन्याय और सत्याग्रह एकदम बेमेल चीजें हैं।

(३) जब यहाँ के असली निवासी इतने सभ्य और सुसंस्कृत बन जायेंगे कि लड़ाई का पुराना तरीका छोड़कर अपने झगड़ों के निपटाने के लिए ईसाईजनोचित उपाय काम में लेने लगेंगे, तब उनमें इतनी योग्यता भी आ जायगी कि वे राजनैतिक मामलों में अपने मताधिकार का उपयोग कर सकें। सत्याग्रह से सम्बद्ध प्रश्नों का यह स्वयं एक बहुत बड़ा हल होगा। ऐसी सभी शक्तियों का सामना करने का एकमात्र और सबसे सुन्दर उपाय यही है कि इन असली निवासियों के प्रति अभी से न्याय का बर्ताव शुरू कर दिया जाय और उनके हितों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी प्रश्न हैं, उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी राय देने का उन्हें अवसर दे दिया जाय।

(४) सच्चा सत्याग्रह कभी उपद्रव प्रतीकार का रूप धारण नहीं करेगा। जहाँ हिंसा से काम लिया जाता है और भयावह वातावरण निर्माण करने की कोशिश होती है, वहीं उसके जवाब में हिंसा पैदा होती है। युद्ध एक छोर पर है तो सत्याग्रह दूसरे छोर पर है। इसलिए आज भारतीय जिन सिद्धान्तों पर अमल कर रहे हैं, यदि उन्हें अफ्रीका के पुराने निवासी भी स्वीकार कर लें तो दक्षिण अफ्रीका को भयानक विद्रोहों से डरने की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी। तब अफ्रीकियों को दबाये रखने के लिए वहाँ एक फौज रखने की जरूरत भी नहीं होगी। तब दक्षिण अफ्रीका का भविष्य इसके भूतकाल की अपेक्षा कहीं अधिक उज्ज्वल होगा।

जब भी कभी सत्याग्रह के महान् प्रश्न पर बातचीत होती है तब वे महान् नेता यही दलीलें देते हैं। कहते हैं: "अब तो सत्याग्रह की जड़ें जम गयीं। इसके लिए हमें भगवान् को धन्यवाद देना चाहिए, क्योंकि यह शान्ति का दूत है।"

जो भी इन बातों पर गहराई से विचार करते हैं, सभी उस भारतीय स्वप्नद्रष्टा के साथ मानते हैं कि अब इस बंजर भूमि पर अच्छे दिन आने वाले हैं। क्यों न तलवारों के इक ओर भालों के हँसिये बना लिये जायें। क्यों न मनुष्य युद्ध-कला सीखना ही अब से छोड़ दें। कौन कह सकता है, भार तीयों का यह अल्प दुःख-सहन उस शान्ति के महान् युग का अरुणोदय ही हो।

आजकल हम देखते हैं कि भारत में बड़ी अशान्ति है। मैंने उनसे कहा कि अपने पत्र के द्वारा भारत के नौजवानों के नाम आप एक सन्देश क्यों न भेज दें। उनका जवाब मेरे सामने पड़ा है। वे लिखते हैं :

'जिन लोगों के साथ मेरा कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं हुआ है, उन्हें कोई सन्देश भेजने का मुझे अधिकार भी है? मैं नहीं जानता। किन्तु मुझसे चाहा गया है और मैंने स्वीकार कर लिया है। ये हैं मेरे विचार :

ट्रान्सवाल की लड़ाई का भारत से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी बात नहीं। हम ऐसे आदमियों के निर्माण में लगे हैं जो संसार के किसी भी भाग में शोभा दे सकते हैं। नीचे लिखी मान्यताओं के आधार पर हमने यह लड़ाई शुरू की है :

(१) नैतिक बल की अपेक्षा सत्याग्रह हर हालत में अनन्त गुना ऊँचा है।

(२) संसार में भारतीयों और यूरोपियनों के बीच कहीं भी कोई आन्तरिक भेद नहीं है।

(३) भारत में राज्य करनेवाले अंग्रेजों के हेतु जो भी कुछ रहे हों उनके राष्ट्र में व्यापक इच्छा तो यही है कि न्याय हो। इसलिए अंग्रेज कौम और भारतीय कौम के बीच सम्बन्धों का विच्छेद एक दुर्घटना ही होगी। यदि भारत में या अन्यत्र हमारे साथ स्वतन्त्र आदमियों के समान व्यवहार हो अथवा इस अधिकार को हम ही स्थापित कर लें, तो अंग्रेजों और भारतीयों के बीच का सम्बन्ध दोनों के लिए लाभदायक

सिद्ध होगा। यही नहीं, बल्कि यह समस्त संसार के लिए धार्मिक दृष्टि से, अतः सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा। मेरा तो मत है कि प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे का पूरक है।

इनमें से किसी भी दृष्टि से देखें तो ट्रान्सवाल की यह सत्याग्रह की लड़ाई मैं तो समझता हूँ उचित ही सिद्ध होगी। यह शायद बहुत जल्दी खत्म न भी जाये। फिर भी मैं तो समझता हूँ कि न केवल हमारे ट्रान्सवाल वासियों के दुःखों को, बल्कि भारत में भी हमारे लोगों को जो-जो भी राजनैतिक अथवा अन्य कष्ट हैं, उन सबको दूर करने के लिए यही एक मात्र रामबाण उपाय है।"

• • •

ग्रहण करने लगा। अर्थात् भक्त-जनों को सन्मार्ग दिखाकर मोक्ष की राह से जाने के लिए अवतार ग्रहण करने लगा। गीता में कृष्ण के मुख कहलाया गया है :

"जब जब भी धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब सज्जनों की रक्षा के लिए तथा दुष्कर्म करनेवालों का नाश करने के लिए मैं हर युग में अवतार धारण करता हूँ।"

मैंने पूछा : "आपके धर्म में क्या ईसाई-धर्म को भी आवश्यक स्थान है ?"

उन्होंने कहा : "हाँ, वह तो हिन्दू धर्म का अंग है। ईसा ईश्वर का एक उत्तम अवतार है।"

मैंने कहा : 'किन्तु अप्रतिम नहीं ! जैसा कि मैं उसे मानता हूँ।"

उन्होंने निश्चल भाव से कहा : "आप जिस अर्थ में मानते हैं वैसा वे सचमुच नहीं। मैं उसे एकमात्र अवतार के रूप में ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि मैं मानता हूँ कि ईश्वर तो समय-समय पर अवतार लेता ही रहता है।'

उनके लिए धर्म एक अत्यन्त व्यावहारिक वस्तु है। प्रत्येक धर्म के मूल में वह रहता है। कई लोग कहते हैं कि सत्याग्रह तो एक राजनैतिक वस्तु है। उसमें कुछ नीति के तत्त्व भी हैं। धर्म से उसका कोई सरोकार नहीं। गांधी कहते हैं यह धारणा एकदम गलत है। राजकारण नीति, व्यापार और जहाँ जहाँ भी विवेक-बुद्धि की जरूरत होती है, वह सब धर्म का क्षेत्र है।

इसलिए 'सरमन ऑन दि माउण्ट' ने और उसमें तथा भगवद्गीता में वर्णित आत्मत्याग की बात ने उनकी कल्पना को स्वभावतः बहुत प्रभावित किया है। इसी प्रकार लाइट ऑफ एशिया के वह पूरे भक्त हैं। उनकी कल्पना यह है कि ईश्वर की भक्ति के साथ मनुष्य शम, दम, नियमादि का पालन करे तो वह मोक्ष को अर्थात् सारे धर्मों के अन्तिम लक्ष्य को—जिसे बुद्ध ने निर्वाण कहा है और जिसे इवेंजेलिस्ट जॉन ने विशुद्ध मानव का ईश्वर में सम्पूर्णतया विलीन हो जाना कहा है—प्राप्त हो सकता है।

मैं मानता हूँ कि किसी भी एक धर्म के सिद्धान्त इतने व्यापक और विशाल नहीं हैं जिसमें इनके विचारों का पूरा-पूरा समावेश हो सकता है। न कोई ईसाई गिर्जा-समाजी इतनी महान् है, जो उनको अपने अन्दर रख सकती है। हिन्दू मुसलमान ईसाई, पारसी, यहूदी, बौद्ध और कन्फ्यूशियस सबके लिए उनके दिल में समान स्थान है। सबको वे एक ही पिता की सन्तान मानते हैं। मैंने एक दिन उनसे पूछा: "तो क्या आप थियोसाफिस्ट हैं?" उन्होंने जोर के साथ कहा: "नहीं मैं थियोसॉफिस्ट नहीं हूँ। थियोसॉफी की बहुत-सी बातें मुझे अच्छी लगती हैं। किन्तु थियोसॉफिस्ट मत को मैं पूरी तरह से कभी नहीं मान सका हूँ।'

सचमुच यह विशालहृदयता सत्याग्रह की एक विशेषता रही है। इसने भारतीय समाज के सब अंगों को एकता के सूत्र में बाँध दिया है। यह बताना कठिन है कि इनमें से किस अंग ने कौम की सबसे अधिक सेवा की है। श्री काछलिया श्री दाऊद मुहम्मद और श्री बावजीर इस्लाम के अनुयायी हैं। श्री पारसी रुस्तमजी और श्री सोराबजी जरथुस्त्र के मानने वाले हैं। श्री वी पी व्यास और श्री थम्बी नायडू हिन्दू नेता हैं। सब जेल जा चुके हैं। सबने सच्चे दिल से सेवा की है और सामान्य विपत्ति इनको तथा दूसरे सहायकों को एक-दूसरे के इतने निकट ले आयी है कि वे जात पाँत और धर्म के सारे भेदभावों को भुलाकर सगे भाई की तरह एक हो गये हैं।

गत अगस्त की एक घटना से मेरा यह कथन बिलकुल साफ हो जायगा। थम्बी नायडू नामक एक तमिल नेता का जिक्र मैं कर चुका हूँ। वह तो 'पुराने गुनहगार' हैं। पिछली बार उन्हें तीसरी बार जेल की सजा सुनायी गयी। पन्द्रह दिन की। श्री गांधी ने मुझसे कहा: "चलिये उनकी बीमार पत्नी से मिल आयें।" मैंने खुशी से कहा: "चलिये।" रास्ते में हमें मस्जिद के इमाम साहब और एक मौलवी मिल गये। उनके साथ एक यहूदी सज्जन भी थे। यह अजीब मंडली—दो मुसलमान एक हिन्दू

एक यहूदी और एक ईसाई एक हिन्दू मित्र को सान्त्वना देने के लिए उनके घर पहुँचे। हमें देखकर वे बेचारी खड़ी हो गयीं। उनका बड़ा लड़का उन्हें सहारा दे रहा था और उनकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बह रही थीं। उनका अन्तिम समय नजदीक आ रहा था। जब हम बैठकर नमनपूर्वक प्रार्थना कर चुके, तो मौलवी साहब ने उर्दू में कुरान के दो शब्द कहे और इसी प्रकार हमें भी कहा। हम सबने भी अपनी अपनी तरफ से उन्हें ढाढ़स बँधाने के हेतु कुछ कहा। बड़ा पावन प्रसंग था। जात-पाँत, धर्म-रंग के भेदभावों को तुच्छ बना देनेवाले दिव्य प्रेम के ईश्वर-हृदय को प्रत्यक्ष हमारे देखने में आते, उनमें से यह ऐसा ही एक प्रसंग था। श्री गांधी के आदर्श की यह एक मनोरम झाँकी ही थी।

निरामिष भोजन उनके लिए एक धार्मिक सिद्धान्त ही है। इसका मुख्य कारण है, प्राणिमात्र के विषय में उनके मन में अनन्त आदर और प्रेम भाव। स्वास्थ्यसम्बन्धी विचार भी इसके पीछे हैं ही। इस (मोक्ष देनेवाले) युद्ध में अपनी माता की उपस्थिति में उन्होंने बचपन में ही शिक्षा पा ली थी। किन्तु तब से वे सिद्धान्ततः निरामिषाहार के पूरी तरह कायल हो गये हैं और बड़े उत्साह के साथ इसका प्रचार भी करते हैं। पिछले दिनों ट्रान्सवाल की जेलों में अधिकारियों ने समय का दलिया करनी में ही पकाने की फिक्र नहीं की तो इनके अनुयायियों ने भूखों रहना स्वीकार कर लिया पर उस दलिया को छुआ तक नहीं।

इसी प्रकार शराबबन्दी भी उनके लिए एक धार्मिक सिद्धान्त के समान ही है। ऐसा वे सचमुच मानते हैं। वे कहते हैं कि बहुत-सी बीमारियों और आफ़तों के अनेक पापों का कारण यही चीज है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी वासनाओं के बारे में शरीर को सदा संयम में रखे और उसे निरन्तर काबू में रखे। योगी और संन्यासी की भाँति वे बड़े संयम से रहते हैं और इसमें आनंद मानते हैं। किन्तु इससे भी अधिक आनंद उन्हें इसी मार्ग पर चलने में अपने साथियों की मदद करने में आता है।

ईसाइयत बहुत ही दोष की पात्र है। ईसाइयत ने अपने 'प्रभु' को यहाँ जिस रूप में खड़ा कर रखा है, उसे देखकर इन उपनिवेशों में शायद ही किसी भारतीय के दिल में ईसा की प्रेममयी मूर्ति के प्रति आकर्षण हो। इसके भारतीय और चीनी बच्चे उन बोर्डिंगस्कूलों में हमारे बीच रह रहे हैं। बोर्डिंगस्कूलों के गिरजों में जानेवालों ने इन लोगों के प्रति कोई दिलचस्पी दिखाई है? बिलकुल कुछ नहीं। कभी उन्हें यह विश्वास दिलाने का यत्न भी किया गया है कि ईसा उनकी आत्माओं के लिए भी सूली पर चढ़ा था? कभी नहीं। कुछ इक्के-दुक्के व्यक्तियों ने अपनी तरफ से जरूर कुछ यत्न किया और कुछ भारतीय ईसाई प्रार्थना-घरों में जाते भी हैं; पर अधिकांश में तो उन्हें एकदम दूर ही रखा गया है। और जिन थोड़े से आदमियों ने यह बताने का यत्न किया कि आज भी ईसा के गिरजाघरों में कुछ दया धर्म बचा हुआ है और मुसीबत में पड़े हुए इन लोगों के पक्ष में दो शब्द जबान से निकालने की हिम्मत की है, उन्हें हजारों गालियाँ दी गयी हैं और इन भारतीयों के समान ही सताया गया है। एक सुन्दर धर्म और हमारे दरवाजे पर खड़े भारतीय के प्रति हमारा जो व्यवहार है, उसमें यह जो दोष है वह विचारशील पुरुषों को बहुत अखरता है।

मेरा खयाल है कि [illegible] की [illegible] की आध्यात्मिकता को भी हम नहीं समझ पाते हैं। गिरजाघरों में—धार्मिक पुरुषों में—इसके प्रति जो उदासीनता दिखाई है, उससे भी इनको बड़ी चोट पहुँची है। सच पूछिये तो यह कोई व्यापारविषयक झगड़ा नहीं है और न कोई राजनैतिक सवाल ही है। ये चीजें तो इस लड़ाई की आनुषंगिक बातें हैं। एशियाई लोगों में इस समय जो मनुष्यता का मान जाग रहा है उसका यह एक चिह्नमात्र है। उसका अर्थ यही है कि अब वे हमारे समाज में दबकर और अपमानित होकर नहीं रहना चाहते। इस दावे को वे दृढ़-तापूर्वक पेश कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि ईसाइयत का दावा करनेवाले इनसे मनुष्यता के साथ पेश आवें।

खैर, मैं समझता हूँ कि यद्यपि ये जिज्ञासु अभी अपने प्रश्न को सार्थक रूप में उस अद्भुत अनुभूति को प्राप्त नहीं कर पाये हैं, जो कि ईसाई-धर्म की महान् निधि है, जो क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवन को भी महान भी समर्पित करती है तथा बलवान्-से-बलवान् को भी नवीन बल देती है। फिर भी उस प्रभु के इन शब्दों को मैं नहीं भुला सकता कि "मुझे प्रभु कहकर पुकारने वाला हर आदमी स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता, किन्तु जो आदमी मेरे पिता की आज्ञा का पालन करता है, वह अवश्य वहाँ प्रवेश पा सकेगा।"

• • •

अनुकथन

११ अक्तूबर, १९ ८

अब श्री गांधी को इसी वर्ष में दूसरी बार दो महीने की जेल की सजा सुनायी गयी—सपरिश्रम। उनका अपराध यह था कि नेटाल से लौटने पर वे अपना रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट—नाम दर्ज होने का—प्रमाण-पत्र नहीं दिखा सके। हर आदमी जानता था कि यह कानून जारी कर दिया गया था। किन्तु जब सरकार समझौते का पालन करने से मुकर गयी, तब औरों के साथ इन्होंने भी उसे जला दिया और पहचान के रूप में अपने अँगूठे की निशानी देने से इनकार कर दिया। यह एक अपमानजनक विधि थी क्योंकि निशानी देने का अर्थ वर्तमान कानून को मान्यता देने के बराबर हो जाता।

इस सारी लड़ाई में उनका यत्न बराबर यही रहा है कि वे अपने छोटे से-छोटे आदमी के साथ रहें और उन्हीं के समान कष्ट उठायें। सच पूछिये तो सभी प्रतिष्ठित नेताओं ने यही किया है। कुछ दिन पहले जब परवाना न रखने के कारण कुछ फेरीवाले पकड़ लिये गये तब इस समाज के सबसे अधिक सुशिक्षित और धनवान् पुरुष तक एकाएक फेरीवाले बनकर खड़े हो गये। मस्जिद के इमाम, ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन के सभापति चीनी एसोसियेशन के सभापति और ऐसे ही कई लोग फल और सब्जी की टोकरियाँ लेकर या दूसरा सामान लेकर सड़कों पर खड़े हो गये और पुलिस के अधिकारियों तथा मजिस्ट्रेटों को ये चीजें खरीदने के लिए कहने लग गये। यह एक मार्के की बात थी, जिसका उन गोरों पर बड़ा असर हुआ। अभी-अभी वॉक्सरस्ट से एक तार आया है, जिसमें लिखा है कि श्री गांधी को जेल के मामूली कपड़े पहनाकर वॉक्सरस्ट के ही मार्केट के मैदान पर काम करने के लिए भेजा गया है।

उन्हें सजा सुनाते हुए मजिस्ट्रेट ने कहा बताया गया है : "श्री गांधी इस न्यायालय के तथा सर्वोच्च न्यायालय के एक अधिकारी पुरुष हैं। आज उन्हें यहाँ इस रूप में देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। किन्तु यह देखकर कि वे अपने देश के लिए कष्ट उठा रहे हैं श्री गांधी को शायद और ही कुछ लग रहा हो। लेकिन मैं तो दूसरे ही दृष्टिबिन्दु से देख सकता हूँ।

गांधी ने खुद ही साफ-साफ बता दिया कि इस बारे में उनके विचार क्या थे। न्यायासन को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा : "मैं इस न्यायालय का तथा सर्वोच्च न्यायालय का भी एक अधिकारी हूँ और फिर भी मैंने रजिस्ट्रेशन का प्रमाण-पत्र दिखाने तथा अपनी उँगलियों व अँगूठे की निशानियाँ देने से इनकार कर दिया है। इस विषय में मुझे अपनी स्थिति साफ कर देनी चाहिए। सन् १९०७ के दूसरे एशियाई कानून को लेकर सरकार और ब्रिटिश भारतीयों के बीच कुछ विवाद खड़ा हो गया है। ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन के मन्त्री के नाते मैं ब्रिटिश भारतीयों का प्रतिनिधि हूँ। इस हैसियत से मैंने यह अपनी जिम्मेवारी समझी है कि मैं अपने देशभाइयों को सलाह दूँ कि इस कानून के अनुसार जो प्राथमिक बातें उनसे चाही गयी हैं उनका पालन वे नहीं करें। फिर भी राज्य के कानूनों को माननेवाले नागरिकों के नाते इसकी जो सजा हो उसे उठा लें। हमारी मान्यता सही हो या गलत पर अन्य एशियाई भाइयों के साथ मैं भी मानता हूँ कि प्रस्तुत कानून में अनेक आपत्तिजनक बातें हैं। उनमें एक यह भी है कि यह हमारी विवेक-बुद्धि का अपमान करता है। और मैंने समझा—जैसा कि आज भी समझता हूँ कि—इस कानून के प्रति अपना रोष प्रकट करने का एकमात्र उपाय ब्रिटिश भारतीयों के सामने यही है कि वे इसे मानने से इनकार कर दें और जो सजा उन्हें दी जा सकती हो उसे उठा लें। तदनुसार मैं स्वीकार करता हूँ मेरे साथी अभियुक्तों को मैंने सलाह दी है कि वे इस कानून की उप

सन् १९०८ के छब्बीसवें कानून को मानने से इनकार कर दें। क्योंकि सरकार ने पूरी राहत देने का वचन देकर भी वह नहीं दी है। बस, इतना मेरा अपराध मैं स्वीकार करता हूँ। न्यायासन को भी उचित हो, मुझे सजा दे। मैं उसे सहने को तैयार हूँ।"

इसके कुछ ही समय पहले उन्होंने एक कागज के टुकड़े पर मुझे यह लिख भेजा :

"परमात्मा में मेरा पूरा विश्वास है। इसलिए मैं प्रसन्न हूँ।"

इस प्रकार अपने डेढ़ सौ देशभाइयों के साथ, जो ट्रान्सवाल की विभिन्न जेलों में बाँट दिये गये हैं श्री गांधी को भी जैसा कि उन्होंने लिखा है—किंग एडवर्ड के होटल में आतिथ्य का उपभोग करने की सजा सुना दी गयी है और लिखते हैं—"प्रसन्न हूँ" आज ट्रान्सवाल में सबसे अधिक सुखी आदमी मैं हूँ, ऐसा अनुभव करता हूँ।" स्वाभाविक ही है :

'जो मनुष्य दुःख में उद्विग्न नहीं होता
और सुखों के प्रसंगों में फूल नहीं जाता
जो वीत-राग भय क्रोध है सचमुच
उसने योग प्राप्त कर लिया।

२७ अक्तूबर

रविवार को श्री गांधी को वाक्सरस्ट जेल से जोहान्सबर्ग के किले में बदल दिया गया।

भारतीय कुशल पहरेदार बन गये हैं। जरा सावधान! इस तबदीली के समाचार कहीं पहले से ही मिल गये और उन्होंने इस मार्ग के हर स्टेशन पर अपने आदमी तैनात कर दिये। जब श्री गांधी जोहान्सबर्ग पहुँचे तो स्टेशन से पहले उन्हें शहर की सड़कों पर से किले तक पैदल ही ले जाया गया। उनके बदन पर कैदी के सामान्य कपड़े थे जिन पर लम्बे बाण के चौड़े निशान बने थे और मामूली कैदी के समान अपना सामान भी खुद ही उठाकर ले जा रहे थे।

ऐसे ब्रिटिश शासन पर आदमी का सिर शर्म से झुक जाता है, जहाँ मनुष्य का इस तरह अपमान किया जाता है। अफसोस यह थी जेल की प्रथा का परिणाम है। इन जेलों के अधिकारी सामान्यतः नम्र और शिष्ट हैं। एक अपवाद को छोड़ दें, तो सिपाही भी सामान्यतया अच्छा बर्ताव रखते आये हैं। किन्तु कानूनों में भारतीयों को तो देशी आदमी माना गया है और सत्याग्रही को अपराधी। फिर यदि अपराधी देशी आदमी है तब तो कानून के अनुसार उसका जितना भी अपमान किया जा सकता होगा उतना जरूर किया ही जायगा। इस कारण शासनों पर कभी ये पंक्तियाँ एक जंगली अपराधी को तथा शिक्षित भारतीय को निष्पक्ष भाव से समान रूप से पीसती रहती हैं। हमें ज्ञात हुआ है कि उस रात गांधी को अत्यन्त दुःखमय अनुभव हुए, इसका भी कारण यही जेलों के साँचे में ढले नियम ही थे। एक देशी अपराधी होने के कारण उन्हें देशी और चीनी अपराधियों के साथ एक ही कोठरी में बन्द किया गया था। ये कैदी ऐसे वर्ग के अपराधी थे जिनसे अधिक पतित आदमियों की कल्पना आसानी से नहीं की जा सकती। उनमें ऐसे-ऐसे दुर्गुण थे जिनका उच्चारण भी नहीं किया जा सकता। वे बुरी तरह झगड़ते-लड़ते थे तथा एक-दूसरे पर आक्रमण करते थे। उनसे बचने के लिए इस सुसंस्कारी पुरुष को सारी रात जागकर बितानी पड़ी। वह रात कभी भुलायी नहीं जा सकती।

२८ अक्तूबर

हम एक बार और उन्हें मिल लिये। कल और आज किसी मामले में अदालत में उनकी गवाही थी। तब हमने उन्हें देखा और बातचीत भी की। दुबले और श्याम दिखते थे। स्पष्ट ही उस निकम्मे भोजन और जेल के बुरे अनुभवों का असर उन पर दीख रहा था। किन्तु उनकी आत्मा शान्त और बुद्धि साफ है। अपने हमेशा के ढंग से उन्होंने यह कह दिया : सब कुछ ठीक है।

वे वापस जेल पर पैदल ले जाये जा रहे थे। साथ में उनके एक मित्र

भी उनके दो प्यारे बच्चों को लेकर दो सिपाही । रास्ता धूल भरा था । बड़ी दूर तक बच्चे उनकी कतार में साथ-साथ चलते थे—इस आशा से कि शायद वे उनकी तरफ देखेंगे और वे (बच्चे) उन्हें कुछ कहकर खुश कर सकेंगे । किन्तु बच्चे सफल नहीं हो सके । उनका मुँह सीधा जेल-खाने की ओर लगा था । उसके सिवा उन्हें कुछ भी नहीं दीख रहा था ।

पता नहीं उस लम्बे मार्ग में उन्होंने क्या देखा ! निश्चय ही वह उस चीज़ को— जहाँ उन्हें वह भोगना था नहीं देख रहे होंगे । उससे अधिक भयानक दृश्य मैंने कभी नहीं देखा—भयानक काल-कोठरियाँ और वे सभी घृणित चीज़ें । कैदियों की लम्बी-लम्बी कतारें सफेद कपड़े पहने वे बन्दरों जैसे देसी सिपाही—जो अपने नंगे साथियों से बातचीत करते रहते हैं । वहाँ सिर्फ़ आदमियों की पूजा कोड़ों से होती है और हर आदमी के चेहरे पर जुर्म की छाया छपी होती है । यह ऐसी नगरी है, जिसके रहस्य कभी बाहरी दुनिया को नहीं मालूम हो सकते । जहाँ से बच्चे अपराधी बनकर निकलते हैं और अपराधी पहले से अनन्त गुने बुरे और पतित बनकर ।

नहीं उसका नहीं यह दूसरा ही जेलखाना है जिसका हम निरन्तर ध्यान करते रहते हैं । यह ऐसा शहर है जिसे सभी दैवी प्रेरणावाले पुरुष देखते हैं और जिसकी दीवारें बनाने के लिए वे आज भी सारी धन-धाम ताक पर रखकर खून पर चढ़ जाना पसन्द करते हैं । यह एक पवित्र शहर है जो कभी से ईश्वर के स्वर्ग से नीचे आ गया है । उसे कोई पहचान नहीं सकता किन्तु बराबर वह आकार धारण करता जा रहा है । दरिद्रता और गन्दगी में दुनियावी लोग उसे नहीं देख सकते । जहाँ कहीं भी परमात्मा के प्यारे बच्चे हैं वह नया जेलखाना है—जिसके सुन्दर द्वार सभी प्राणी के लिए खुले हैं । जहाँ भारतीयों पर शोक बरसानेवाला रंगभेद और चीनियों का दबानेवाला जातिभेद नहीं जिसकी दीवारों पर पशिपायें भी ऐसे-ऐसे चमत्कार कर सकते हैं, जिन्हें देखकर हम चकित हो जायें ।

●

सफाई : विज्ञान और कला	-७५
सुन्दरपुर की पाठशाला	-७५
गो-सेवा की विचारधारा	-५
गो-उपासना	२५
घर-घर में गाय	-२५
समाजवाद से सर्वोदय की ओर	३८
मेरी विदेश-यात्रा	६२
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	०-२५
शोषण-मुक्ति और नव-समाज	६२
भूदान से ग्रामदान	१२
पूर्व बुनियादी	-५
एशियाई समाजवाद	१ ५
लोकतान्त्रिक समाजवाद	१-५
बच्चों की कला और शिक्षा	८
क्रान्ति की राह पर	१
क्रान्ति की ओर	१
गांधीजी क्या चाहते थे ?	-५
भूदान-पोथी	०-२५
सर्वोदय की सुनो कहानी (पाँच भाग)	१ २५
किशोरलाल भाई की जीवन साधना	२-०
जेल भी क्या जीना	२
गुजरात के महाराज	२
जाजूजी : जीवन और साधना	१ २५
अन्तिम झाँकी	१-५
ग्रामराज क्यों ?	१८
ग्राम-स्वराज्य	-५६
प्राकृतिक चिकित्सा-विधि	१-५
बापू के पत्र	१ २५
कुष्ठ-सेवा	१ २५
अहिंसात्मक प्रतिरोध	-५
प्यारे बापू [तीन भाग]	१-५
बापू के जीवन में प्रेम और श्रद्धा	१
गांधीजी की मधु माधुरी	१
हमारे बाबा	१२
बाबा के पथ पर	०-५
मेरा जीवन-विकास	५
कताई गणित भाग १	१
कताई गणित भाग २ १ ४ प्रत्येक	-७५
बुनाई	१
कताई-शास्त्र	२-०
वर्ग-संघर्ष	-६२
विश्वशांति क्या संभव है ?	१ २५
धरतीमाता की गोद में	-७५
गाँव का गोकुल	२५
सर्वोदय-संयोजन	१-०
श्रम-दान	-२५
धर्म-सार	-२५
[illegible]	-२५
विनोबा-संवाद	१८

सत्यमयी शक्ति	११
गोवी-धाम	-५
कुलदीप (नाटक)	२५
एक भेंट (नाटक)	-६२
प्रायश्चित (नाटक)	२५
यमलोक की यात्रा (नाटक)	-२५
गांधी : एक सामाजिक क्रांतिकारी	१८
नाई की कहानियाँ	-२५
बापू की प्यारी सखी	१२
सत्संग	-५
पावन-प्रसंग	-५
स्मरणांजलि (आत्मकथात्मक भजन)	१-५
घरेलू कताई की आम गिनतियाँ	०-७५
घरेलू कताई की आम बातें	१-२५
दाँत बचाना	-६
हाथ-चक्की	-५
खाद और पेड़-पौधों का पोषण	१
जापान की खेती	-७५
ग्रामोद्योग खादी संघ	-२५
व्यवहार और पोषण	-५

ENGLISH PUBLICATIONS

	Rs. nP
Talks on The Gita	2-00
" Bound	3-00
Thoughts on Education	3-00
" " Bound	4-00
Swaraj-Sastra	1-00
Vinoba & His Mission	5-00
Planning for Sarvodaya	1-00
Class Struggle	1-00
Bhoodan as seen by the West	0-75
Science & Self-knowledge	0-50
Towards a New Society	0-50
M. K. Gandhi	2-00
A Picture of Sarvodaya Social Order	1 25
From Socialism to *Sarvodaya*	0-75
Sampatti-Dan	0-50
Sarvodaya & Communism	0-50
The Ideology of the Charkha	1-00
Human Values & Technological Change	0-38
Gramdan : The Latest Phase of Bhoodan	0-13
Why Gramraj?	0-50
Why the Village Movement?	3-00
Non-Violent Economy and World Peace	1-00
Economy of Permanence	3-00
Swaraj for the Masses	1-00
The Cow in our Economy	0-75
Bee-Keeping	1 75
A Overall plan for Rural Development	1-00
Fodder Problem	0-50

●